मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 48 ● वर्ष 5, अंक 12 ● फरवरी 2016 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

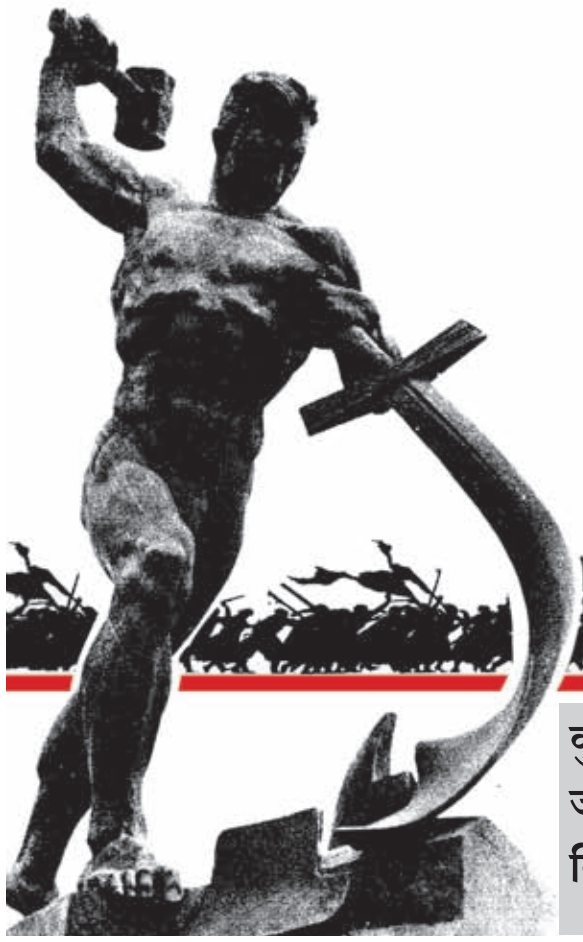

मज़दूर बिगुल

कुछ अहम सवाल जिनका जवाब जाति-उन्मूलन के लिए ज़रूरी है 7

पूँजीवादी खेती, अकाल और किसानों की आत्महत्याएँ 11

आज के समय पर कुछ कविताएँ 14

विरोध और जनान्दोलनों से बौखलाई सरकार और संघ परिवार का नया पैंतरा

"देशभक्ति" के गुबार में आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी के ज़रूरी मुद्दों को ढँक देने की कोशिश

अन्धाधुन्ध झूठे प्रचार के ज़रिये प्रगतिशील, जनवादी और जनपक्षधर ताक़तों को देशद्रोही करार देकर

अवाम का मुँह बन्द करने की साज़िश को समझो!

सम्पादक मण्डल

जब मोदी सरकार जनता के बढ़ते असन्तोष से घिरी हुई थी ठीक उसी समय लोगों का ध्यान भटकाने के लिए एक घटना को ज़बर्दस्ती तूल देकर देशभर में अन्धराष्ट्रवाद का उन्माद पैदा करना शुरू कर दिया गया है। एक विश्वविद्यालय में हुए छोटे से कार्यक्रम में कुछ अराजक तत्वों ने, जिनमें से ज़्यादातर विश्वविद्यालय के छात्र भी नहीं थे, कुछ देश-विरोधी नारे लगाये। भाजपा और संघ परिवार को जैसे इसी मौक़े की तलाश थी। पठानकोट जैसे आतंकवादी हमले के समय अपनी छीछालेदर करवाने वाली सरकार आनन-फ़ानन में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को ''राष्ट्रविरोधियों का गढ़'' साबित करने और वहाँ के तमाम छात्रों को ''देशद्रोही'' बताने में जुट गयी। छात्रसंघ के अध्यक्ष कन्हैया कुमार को गिरफ़्तार करके उन पर देशद्रोह का फ़र्ज़ी मुक़दमा लगा दिया गया। लड़कियों तक के हॉस्टलों में घुस-घुसकर पुलिस ने छात्र-छात्राओं के साथ बदसलूकी की, गिरफ़्तारियाँ कीं। कन्हैया कुमार को अदालत में पेश करते समय भाजपा विधायक की अगुवाई में संघी वकीलों और गुंडों ने पत्रकारों, जेएनयू के शिक्षकों और छात्रों पर कोर्ट के भीतर हमला किया, उन्हें गिराकर पीटा, कपड़े फाड़े, महिलाओं के साथ बदसलूकी की। यह सब योजनाबद्ध था। लगातार संघी एजेंट की तरह काम कर रही दिल्ली पुलिस तमाशाई बनी रही। इस घटना के चौतरफा विरोध और दुनियाभर में थू-थू के बावजूद एक ही दिन कन्हैया कुमार की दूसरी पेशी के दिन एक बार फिर वही घटना दोहराई गयी। घटना की अगुवाई करने वाले विधायक और वकीलों के अनेक वीडियो और तस्वीरें मौजूद हैं फिर भी पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की। उल्टे देश भर में जगह-जगह संघ के छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (ए.बी.वी.पी.) ने छात्रों और नागरिकों के विरोध प्रदर्शनों पर हमले करना शुरू कर दिया है।

अब यह बात बिल्कुल साफ हो चुकी है कि लम्बे-चौड़े वादे करके सत्ता में आयी मोदी सरकार की नीतियों और नाकामियों से नाराज़ जनता को ध्यान भटकाने और देश के कोने-कोने में इसके विरुद्ध उठ रही आवाज़ों को दबानेके लिए भाजपा सरकार और उसके आका संघी गिरोह ने ''देशद्रोह'' के नाम पर लोगों को भड़काने की नयी योजना पर काम शुरू कर दिया है। कारपोरेट घरानों के मालिकाने वाले तमाम टीवी चैनल और उनके बिके हुए पत्रकार इस गन्दी मुहिम में उनके ढिंढोरची बने हुए हैं।

लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिए कि देश में इस समय जो लोग देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति के ठेकेदार बने हुए हैं, ये वही लोग हैं जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई में कोई हिस्सा नहीं लिया था! ये वही लोग हैं जिन्होंने अमर शहीद भगतसिंह और उन जैसे तमा अनेक आज़ादी के मतवालों के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों के लिए मुखबिरी की थी! ये वही लोग हैं जो हिटलर और मुसोलिनी को अपना आदर्श मानते थे और आज़ादी के पहले ब्रिटिश रानी को सलामी दिया करते थे! ये कब से देशभक्ति के ठेकेदार बन बैठे? सत्ताधारी पार्टी और संघ परिवार के ये लोग आज देश को धर्म और जाति के नाम पर तोड़ रहे हैं और साम्प्रदायिकता की लहर पर सवार होकर सत्ता में पहुँच गये हैं। इन्होंने देशभक्ति को सरकार-भक्ति से जोड़ दिया है। जो भी सरकार

(पेज 8 पर जारी)

दवा उद्योग का आदमख़ोर गोरखधन्धा

चिकित्सा विज्ञान के विकास के हर पड़ाव के साथ मानव ने बीमारियों पर विजय की नई बुलन्दियों को छुआ है। खासतौर पर पिछले 100 साल में इस क्षेत्र में लम्बी छलांग लगी है। आज हमारे पास अधिकतर बीमारियों से लड़ने के लिए दवाओं का ज़खीरा मौजूद है। इतनी दवाओं के निर्माण और उपलब्धता के चलते होना तो यह चाहिए था कि हर नागरिक को हर तरह की दवा समय पर और मुफ़्त में उपलब्ध हो। लेकिन सच्चाई इससे कोसों दूर है। अधिकतम जनसंख्या को जरूरी दवाएँ तक उपलब्ध नहीं हैं और जहाँ उपलब्ध हैं वहाँ अधिकतर लोगों की पहुँच नहीं है। किसी समय मानवीय कहा जाने वाला यह पेशा आज मुनाफ़ा आधारित, अमानवीय और निर्मम खूनचूसू तंत्र में तब्दील हो चुका है। दवा कंपनियों से लेकर डॉक्टर और सरकार तक इस पूरे मकड़जाल को बुनने में एकजुट हैं और हर तरह के क़ानूनों, खोखले नैतिकतापूर्ण भाषणों और अपीलों के बावजूद यह गोरखधन्धा तेजी से मानवता के गले में रस्से की तरह कसता जा रहा है। चलिए इस गोरखधन्धे को समझते हैं और इसकी तह तक चलते हैं।

टावर्स वाटसन नामक एक वैश्विक सर्वेक्षण कम्पनी के अनुसार भारत का दवा उद्योग दुनिया में तीसरा सबसे बड़ा दवा उद्योग है। भारत सरकार के रसायन और उर्वरक मंत्रालय के फार्मास्यूटिकल विभाग के अनुसार 2008-09 के बीच भारत के दवा उद्योग का कुला सालाना कारोबार 21 अरब अमेरिकी डॉलर रहा था। हमारे देश में 2007 में ही छोटी-बड़ी 10,563 दवा कम्पनियाँ थी जो करीब 90,000 ब्राण्ड बनाती थीं। इंडियन ब्रांड इक्विटी फाउंडेशन नामक एक गैर सरकारी संगठन द्वारा किए गए एक सर्वे के अनुसार 2020 तक भारतीय दवा बाज़ार का कारोबार 85 अरब अमेरिकी डॉलर हो जाने की सम्भावना है। बहुत तेजी से बढ़ता हुआ दवा उद्योग हमारे देश में ही नहीं पूरी दुनिया में हथियारों के बाद सबसे ज्यादा मुनाफ़े का कारोबार बनता जा रहा है। और यह यूँ ही नहीं हो रहा है। इसके लिए हर तरह के हथकण्डे इन कंपनियों द्वारा अपनाये जा रहे हैं।

एक हथकण्डा है जेनेरिक और एथिकल दवाओं का भ्रमजाल। अधिकतर लोगों का यह मानना है कि जेनेरिक दवाओं की गुणवता ब्रांडेड एथिकल दवाओं से कमतर होती है। बड़ी दवा कंपनियों द्वारा भी यह भ्रम फैलाया जाता है। पढ़े-लिखे लोग अक्सर इस भ्रम का शिकार हो जाते हैं। सबसे पहले तो देखते हैं कि जेनेरिक दवा आखिर होती क्या है? जब भी किसी नई दवा की खोज होती है तो उसको बनाने वाली कम्पनी उसका पेटेंट करवा लेती है. इस तरह से उस दवा को बनाने और बेचने का अधिकार सिर्फ उसी कम्पनी के पास होता है। ऐसे में यह कम्पनी अपनी

(पेज 16 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

अन्धकार को दूर भगाओ, मज़दूर मुक्ति की मशाल जगाओ

आज से कई साल पहले जब धरती पर जीवन की शुरुआत ही हुई थी तो उस समय मनुष्य अँधेरे, बिजली चमकने, तथा बारिश जैसी चीज़ों से डरा करता था। परन्तु ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार के कारण धीरे-धीरे मनुष्य ने अपने डर पर विजय प्राप्त कर ली। आज विज्ञान ने इतनी तरक़्क़ी कर ली है कि इंसान बड़ी-बड़ी नदियों के पानी को बाँधकर उससे बिजली उत्पन्न कर रहा है तथा हर रोज़ नये-नये आविष्कार कर रहा है। कहने का मतलब यह है कि अँधकार अज्ञानता का प्रतीक है, जब तक मनुष्य किसी चीज़ के बारे में नहीं जानता है तब तक उसके मन को शंका और डर घेरे रहते हैं। परन्तु जैसे ही वह उनके बारे मे जानना शुरू कर देता है तो धीरे-धीरे डर का स्थान आत्मविश्वाश ले लेता है।

इसी तरह आज हम भी एक अन्धकारमय और भयानक दौर से गुज़र रहे हैं। हममें से कई लोग ऐसा मानते हैं कि आज जिस ग़रीबी, बदहाली, और भूखमरी का जीवन हम जी रहे हैं, उससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि अभी हमने मज़दूरों के ग़ौरवशाली इतिहास को जाना नहीं है, जब रूस और चीन में हमारे भाई-बहनों ने अकूत कुर्बानियाँ देकर अपना राज क़ायम किया था तथा प्रगति के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये थे। हर रोज़ हम हज़ारों की संख्या में अपनी मज़दूर बस्तियों से कारख़ानों की तरफ़ निकलते हैं और 12-14 घण्टे अपना हाड़-मांस गलाकर केवल अँधेरा होने पर ही अपने दड़बेनुमा कमरों में वापिस आ पाते हैं। इसी तरह अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए हम हर दिन ख़ून-पसीना एक करके मालिकों की तिजोरियाँ भरने में जुटे रहते हैं। परन्तु इतनी कड़ी मेहनत करने के बावजूद भी जहाँ आज हमें और हमारे परिवार को दो वक़्त की रोटी जुटाना भी मुश्किल पड़ रहा है, वहीं दूसरी तरफ़ हमारा ख़ून चूस-चूस मालिकों की तोंद लगातार फूलती जा रही है। जहाँ एक तरफ़ सरकार इन मुट्ठीभर धनकुबेरों के ऐशो-आराम के लिए बड़े-बड़े रिहायशी इलाक़े बना रही है जिनमें महँगे स्कूल और अस्पताल जैसी तमाम सुविधाएँ मौजूद हैं, वहीं दूसरी तरफ़ शहर को साफ़-सुथरा बनाने के नाम पर हमारी बस्तियों पर बुलड़ोजर चलाया जा रहा है। जहाँ एक तरफ़ अमीरों के बच्चे साफ़-सुथरे और महँगे स्कूलों में पढ़ने जाते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ हमारे बच्चे स्कूल जाने की उम्र में अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए मेहनत-मज़दूरी करने को मज़बूर हैं। मालिक और उनके पैसे से चलने वाली तमाम चुनावी पार्टियाँ चाहती हैं कि यह अँधकारमय युग क़ायम रहे ताकि वह लगातार हम पर राज कर सके।

वे जानते हैं कि अगर हम अपने अधिकारों के लिए एकजुट होना शुरू हो जायें तो जिन आलीशान महलों में वे रह रहे हैं, उनकी दीवारें सिर्फ़ हमारे नारों और क़दमों के शोर से ही काँपना शुरू कर देंगी। इसीलिए वे लगातार हमसे कहते रहते है कि अपने अधिकारो को जानने और उनके लिए संघर्ष करने से कुछ हासिल नहीं होगा, मज़दूरों का काम तो बस इतना है कि वो मालिकों का मुनाफ़ा लगातार बढ़ाते रहने के लिए दिन-रात खटते रहे। लेकिन यह तो हमें तय करना है कि क्या हम यूँ ही लगातार मालिकों की गुलामी करते रहेंगे? या फिर खुद की और अपनी आने वाली पीढ़ियों की आज़ादी के लिए लड़ने की तैयारी में जुट जायेंगे? अगर हम चाहते हैं कि हमारी आने वाली पीढ़ियाँ एक आज़ाद दुनिया में साँस ले तो आज जो सबसे बड़ा काम हमारे सामने है, वो है अपने अधिकारों और मज़दूरों के ग़ौरवशाली इतिहास के बारे में जानकारी हासिल करें। परन्तु सिर्फ़ इतने से ही काम नहीं बनेगा बल्कि मज़दूर मुक्ति के सपने को पूरा करने के लिए ज़रूरी है कि इन विचारों को हम जितना ज़्यादा हो सके अपने मज़दूर साथियों तक पहुँचाये। इसके लिए ज़रूरी है कि अपनी-अपनी मज़दूर बस्तियों में अध्ययन चक्र तथा पुस्तकालय स्थापित करें। हालाँकि, इस बात में कोई शक नहीं है कि यह एक लम्बा और मुश्किल रास्ता है लेकिन हर लम्बी यात्रा की तैयारी छोटे-छोटे क़दमों से ही होती है।

– मनन, शिमला

मज़दूरों की ज़िन्दगी

मैं नोएडा की गारमेंट फ़ैक्ट्री में काम करता हूं। दो साल पहले मैं बिहार से काम की तलाश में आया था। जिस मंजिल पर हमारा कमरा है वहां चार कमरे और हैं। दो में परिवार रहते हैं और दो कमरों में तीन-तीन लड़के मिलकर रहते हैं। कमरे का किराया 1800 रुपया है। छोटे से उस कमरे में सीलन है और रोशनी नहीं आती। मकान मालिक सभी मजदूरों को बिहारी कहकर बुलाता है, चाहे वे मध्यप्रदेश के हों, या उत्तर प्रदेश के, या बिहार के। बिहारी जैसे कोई गाली हो।

5800 महीने पर मुझे 12-13 घंटे तक काम करना पड़ता है। मैं काम से नहीं घबराता, लेकिन इतनी मेहनत से काम करने के बाद भी सुपरवाइजर मां-बहन की गाली देता रहता है, जरा से गलती पर गाली-गलौज करने लगता है, और अक्सर हाथ भी उठा देता है। मजदूर लोग दूर गांव से अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए आए हैं, इसलिए नौकरी से निकाले जाने के डर से वे लोग कुछ नहीं बोलते। शुरू-शुरू में मैंने पलटकर जवाब दिया तो मुझे काम से निकाल दिया गया। यहां मेरा कोई जानने वाला नहीं है, इसलिए मेरे लिए काम करना बहुत ही जरूरी है। इसी बात पर मैं भी अब कुछ नहीं बोलता। लेकिन बुरा बहुत लगता है कि सुपरवाइजर ही नहीं, मैनेजर, चौकीदार और खुद मालिक लोग भी हमें जानवर से ज्यादा कुछ नहीं समझते। कारखाने में घुसने के समय और काम खत्म करने के बाद बाहर लौटते समय गेट पर बैठे चौकीदार हम लोगों की तलाशी ऐसे लेते हैं, जैसे हम चोर हों। बस लंच में ही समय मिलता है। उसके अलावा यदि जरूरत हो तो सुपरवाइजर की नाक रगड़नी पड़ती है। स्त्री मजदूरों के साथ तो और भी बुरा बर्ताव होता है। गाली-गलौज, छेड़छाड़ तो आम बात है, जैसे वे औरत नहीं, उस फैक्ट्री का प्रोडक्ट हों। एक दो औरत मजदूरों ने विरोध किया और पलट कर गाली भी दी, तो उन्हें काम से निकाल दिया गया और खूब बेइज्जती की।

मजदूर को तो हर जगह बेइज्जत किया जाता है। एक दिन किराया देने में देरी होने पर लॉज का मालिक सीधे मां-बहन की गाली देने लगता है, और किराने की दुकान का लाला तो और भी गुंडागर्दी दिखाते हुए उसका पैसा देने में देर हो जाने पर मारपीट तक कर देता है। मजदूर बिगुल को पढ़ कर लगता है कि मजदूर लोग बिखरे हुए हैं इसलिए उनके साथ ऐसा होता है। इसलिए मजदूर लोग को इकट्ठा होना चाहिए। नहीं तो मुझे जैसे सैकड़ों मजदूर ऐसे ही अकेले घुटते रहेंगे और हमारी लॉज का गुज्जर मालिक तथा कारखाने का मालिक जैसे लोग हम लोगों को ऐसे ही बेइज्जत करते रहेंगे।

– राजेश, नोएडा

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **- लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरणः Mazdoor Bigul
खाता संख्याः 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यताः वार्षिक: 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:
फ़ोनः 0522-2786782, 8853093555, 9936650658
ईमेलः bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुकः www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - रु. 5/- वार्षिक - रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - रु. 2000/-

होंडा मोटर्स, राजस्थान के मज़दूरों के आन्दोलन का बर्बर दमन, पर संघर्ष जारी है!

अलवर, राजस्थान के टप्पूखेड़ा स्थित होंडा मोटरसाइकल एंड स्कूटर्स के कारख़ाने में करीब 4000 मज़दूर पिछली 16 फरवरी को हड़ताल पर चले गये थे। वे निकाले गये 10 परमानेंट मज़दूरों को काम पर वापस लेने और 400 ठेका मज़दूरों को दुबारा काम पर रखने की मांग कर रहे हैं। इन ठेका मज़दूरों का टर्म पूरा होने के बाद कम्पनी उन्हें निकाल बाहर कर रही है। एक्टिवा स्कूटर और शाइन मोटरसाइकिल जैसी 5000 गाड़ियाँ रोज़ाना बनाने वाले इस कारखाने में मज़दूर लम्बे समय से अपनी यूनियन का रजिस्ट्रेशन कराने के लिए संघर्ष कर रहे हैं और इसी क्रम में 10 मज़दूरों को मैनेजमेंट ने निकाल दिया था। उल्लेखनीय है कि यह प्लांट गुड़गाँव और उसके आसपास की ऑटोमोबाइल पट्टी का ही एक हिस्सा है।

पिछली 16 फरवरी की शाम को टप्पूखेड़ा प्लांट के बाहर धरने पर बैठे मज़दूरों पर राजस्थान पुलिस और कम्पनी के गुंडों ने बर्बर लाठीचार्ज किया। इसी दिन सुबह एक ठेका मज़दूर के साथ सुपरवाइज़र द्वारा मारपीट के बाद मज़दूर हड़ताल पर चले गये थे। मैनेजमेंट द्वारा कई मज़दूरों के खिलाफ़ कार्रवाई करने से मज़दूरों में आक्रोश था। 16 फरवरी की सुबह एक ठेका मज़दूर ने बीमार होने के कारण काम करने में असमर्थता जताई। इस पर सुपरवाइज़र ने उस पर हमला कर दिया और उसकी गर्दन दबाने लगा। इससे मज़दूर भड़क उठे और उन्होंने काम बंद कर फैक्ट्री के भीतर ही धरना दे दिया। उस वक्त करीब 2000 मज़दूर फैक्ट्री के भीतर थे और बड़ी संख्या में मज़दूर बाहर मौजूद थे। मैनेजमेंट ने यूनियन के प्रधान नरेश कुमार को बातचीत के लिए अंदर बुलाया और इसी बीच अचानक भारी संख्या में पुलिस और बाउंसरों ने मज़दूरों पर हमला बोल दिया। उन्होंने मज़दूरों को दौड़ा-दौड़ाकर बुरी तरह लाठियों-रॉड आदि से पीटा जिसमें दर्जनों मज़दूरों को गम्भीर चोटें आयीं। पूरी फैक्ट्री पर पुलिस और गुंडों ने कब्ज़ा कर लिया। सैकड़ों मज़दूरों को गिरफ्तार कर लिया गया।

17 फरवरी को करीब 1500 मज़दूर धारूहेड़ा में एकत्र हुए क्योंकि टप्पूखेड़ा में वे दाखिल भी नहीं हो सकते थे। पूरा इलाका पुलिस के कब्ज़े में है। मज़दूरों ने पुलिसिया दमन और आतंक से डरने के बजाय 19 फरवरी को गुड़गाँव में होंडा के मुख्यालय पर प्रदर्शन आयोजित किया है। यह रिपोर्ट लिखे जाने तक मज़दूर अपने संघर्ष को जारी रखने पर डटे हुए हैं।

यह घटना भी मज़दूरों के भीतर सुलग रहे गहरे असन्तोष का एक विस्फोट मात्र है। यह आग तो सतह के नीचे पूरे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के औद्योगिक इलाक़ों में धधक रही है, जिसमें दिल्ली के भीतर के औद्योगिक क्षेत्रों के अतिरिक्त नोएडा, ग्रेटर नोएडा, साहिबाबाद, गुड़गाँव, फ़रीदाबाद, बहादुरगढ़ और सोनीपत, पानीपत के औद्योगिक क्षेत्र भी आते हैं। राजधानी के महामहिमों के नन्दन कानन के चारों ओर आक्रोश का एक वलयाकार दावानल भड़क उठने की स्थिति में है। मज़दूरों के ख़िलाफ़ पूँजीपतियों के पक्ष में सरकार, नेताशाही, अफ़सरशाही, न्यायपालिका से लेकर कारपोरेट घरानों का मीडिया तक सब एकजुट हैं। यहाँ-वहाँ स्वतःस्फूर्त ढंग से भड़क उठने वाले मज़दूर संघर्षों के विस्फोट यदि कुछ व्यापक भी हो जायें, तो भी नवउदारवाद के इस दौर में सत्ता उन्हें हर क़ीमत पर कुचलने के लिए तैयार बैठी है। इन संघर्षों को आनन-फानन में पहुँचकर, समर्थन देकर जो संगठन स्वतःस्फूर्तता की पूजा मात्र करके कुछ लाभ उठाने की कोशिश करते हैं, वे वस्तुगत तौर पर, आख़िरकार, मज़दूर आन्दोलन को नुकसान ही पहुँचाते हैं। सबसे पहले, ज़रूरी यह है कि एक सेक्टर विशेष के सभी कारख़ानों के मज़दूरों (जैसे समूचे आटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूर) को एक साथ संगठित करने की कोशिश की जाये ताकि वे एक साथ अपनी माँगें उठायें और यदि किसी एक कारख़ाने में मालिक उत्पीड़न करें या कोई आन्दोलन हो, तो एक साथ पूरे सेक्टर के सभी कारख़ानों को ठप्प कर देने की स्थिति हो। दूसरे, अलग-अलग सेक्टरों के मज़दूरों की आपसी एकता बनाने की कोशिश भी शुरू कर देनी होगी और उन्हें इलाक़ाई पैमाने पर संगठित करना होगा। इसका आज एक वस्तुगत आधार है, क्योंकि सभी सेक्टरों में मज़दूरों की बहुसंख्यक आबादी असंगठित है और उनकी ज़्यादातर माँगें एक समान हैं। बेशक यह काम लम्बा होगा। इसके लिए मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार एवं 'एजिटेशन' की लम्बी एवं सघन कार्रवाई चलानी होगी। इस काम में मालिकों और प्रशासन के अतिरिक्त चुनावी पार्टियों और संशोधनवादियों की दुकानदारी के रूप में चलने वाली यूनियनों के नौकरशाह और दल्ले भी काफ़ी अड़चनें पैदा करेंगे। लेकिन आज की परिस्थितियों में, मज़दूर संघर्ष को एकमात्र इसी रणनीति के द्वारा आगे बढ़ाया जा सकता है, इसलिए हमें इसी दिशा में अपनी पूरी ताक़त लगानी चाहिए।

– बिगुल संवाददाता

पुलिस और गुंडों के हमले में घायल मज़दूर

राष्ट्रीय अनुसूचित-जाति आयोग का भी दलित-विरोधी चेहरा उजागर हुआ

मजदूर बिगुल के पिछले अंक में 'हरियाणा पुलिस की दलित विरोधी' घटना की रिपोर्ट में बताया गया था कि भाणा गाँव में दलित उत्पीड़न के शिकार मृतक ऋषिपाल के परिवारजनों और अखिल भारतीय जाति-विरोधी मंच द्वारा न्याय का संघर्ष जारी था। इस संघर्ष के बूते ही दोषी पुलिसकर्मियों के खिलाफ धारा 306 के तहत एफ.आई. आर दर्ज हुई थी और परिवारों को उचित मुआवजा मिला था। दलित-उत्पीड़न इस घटना का संज्ञान लेते हुए राष्ट्रीय अनुसूचित आयोग के सदस्य ईश्वर सिंह ने गांव के दौरे के दौरान दोषियों को सजा दिलवाने का आश्वासन दिया था। लेकिन पिछले डेढ़ माह की कार्रवाई के बाद एससी/एसटी आयोग का भी दलित विरोधी चेहरा उजागर हो गया है। पहले तो आयोग द्वारा पहली सुनवाई की तारीख को परिवार को देर से सूचित किया गया ताकि पुलिस-प्रशासन मामले को समझौते में निपटा दे जैसा किप्राय: हरियाणा में दलित उत्पीड़न की घटना में होता है। इस कारण हरियाण पुलिस बार-बार परिवार के बयान लेने के बहाने चक्कर लगवाती रही ताकि परिवार-जन थककर मुआवजा लेकर शांत बैठ जायें। लेकिन परिवार-जन और अखिल भारतीय जातिविरोधी मंच ने ऋषिपाल के न्याय के संघर्ष के सख्त कदम उठाने की ठान रखी थी, इसलिए पुलिस-प्रशासन का प्रयास असफल रहा। इसके बाद एससी/एसटी आयोग ने दूसरी सुनवाई पर परिवार-जन, मामले की जाँच कर रहे पुलिस अधिकारियों को तलब किया। परिवार-जन को उम्मीद थी कि देश की राजधानी के एससी/एसटी आयोग में न्याय मिलेगा। लेकिन एससी/एसटी आयोग हरियाणा के ईश्वर सिंह ने एकतरफा सुनवाई में परिवार को दोषी पुलिसकर्मियों पर से केस वापस लेने के लिए डराया-धमकाया और मुआवज़ा वापस लेने की धौंस जमाई। आयोग के सदस्य ईश्वर सिंह की बदनीयत का इस से भी पता चलता है कि उन्होंने सुनवाई में दलित परिवार की क़ानूनी मदद के लिए आये वकील को भी बाहर कर दिया। वैसे हरियाणा में विपक्ष पार्टी होने के कारण कांग्रेस से जुड़े नेता ईश्वर सिंह भाणा गाँव के दौरे में लम्बी-चौडी बातें कर रहे थे लेकिन आयोग के बन्द कमरे में नेता जी ने बता दिया कि वह भी पुलिस-प्रशासन और दबंगों के साथ हैं।

पुलिस उत्पीड़न के विरुद्ध प्रदर्शन करते भाणा गाँव के लोग और अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच के कार्यकर्ता

असल में इस पूरी घटना ने एससी/एसटी आयोग के दलित-विरोधी चेहरे को उजागर कर दिया है। साथ ही इससे यह भी पता चलता है किबढ़ते दलित-विरोधी अपारधों को रोकने में देश का क़ानून, न्याय-व्यवस्था इसलिए भी नाकाम है क्योंकि देश की चुनावी पार्टियों, नौकरशाही, पुलिस से लेकर अदालतों तक में ऊँच-नीच वाली ब्राह्मणवादी और गरीब-दलित विरोधी मानसिकता के लोग बैठे हैं। नतीजतन, इनसे आम तौर पर न्याय की उम्मीद करना व्यर्थ है। देश में मोदी सरकार के आने बाद और हरियाणा, राजस्थान में भाजपा सरकारों के सत्तासीन होने के बाद दलित-विरोधी व अल्पसंख्यक-विरोधी अपराधों में भारी बढोत्तरी हुई है और धर्म, जात-पात के नाम पर वोट बैंक की राजनीति करने वालों से निष्पक्षता और न्यायपूर्णता के साथ कार्रवाई की उम्मीद करना बेकार है।

– बिगुल संवाददाता

साथी नवकरण की याद में

हमारा प्यारा नौजवान साथी नवकरण नहीं रहा। पंजाब के इस बहादुर क्रान्तिकारी कार्यकर्ता ने 23 जनवरी को मौत को गले लगा लिया। इस बात पर चाहकर भी विश्वास नहीं हो पा रहा है कि एक बेहद संवेदनशील, विवेकवान व क्रान्ति के लक्ष्य को पूर्ण रूप से समर्पित इस नौजवान ने ख़ुदकुशी का यह त्रासद कदम उठा लिया। यह यकीन नहीं हो पा रहा है कि अपने साथियों के लिए जीने वाला नवकरण आज उन्हें छोड़कर चला गया है। इस तरह की घटनाएँ हर बार क्रान्तिकारी आन्दोलनों को गहरा आघात पहुँचाती रही हैं। हर बार ये घटनाएँ क्रान्तिकारियों को बताती रही हैं कि यह रास्ता कितना बीहड़ है, कितना लम्बा है।

आख़िरकार क्रान्तिकारी भी इस समाज से ही आते हैं और अपने भीतर इस समाज के जन्मचिन्हों को लिये हुए ही क्रान्ति के काम में आते हैं। वे लगातार अपनी कमज़ोरियों, बुराइयों से सतत संघर्ष करते हैं और एक-एक करके उन्हें मात देते हैं। यह संघर्ष जीवनपर्यन्त थमता नहीं और अलग-अलग रूप लेता रहता है। एक क्रान्तिकारी को यह संघर्ष उसकी मृत्यु तक लगातार चलाना पड़ता है। एक संघर्ष वह इस व्यवस्था के खिलाफ चलाता है ताकि एक ऐसी दुनिया का निर्माण किया जा सके जिसमें उन बुराइयों के बीज न हों जो पूरे समाज के साथ ही उस क्रान्तिकारी के भीतर भी है और जिनसे वह सतत् संघर्षरत है। अक्सर लोग क्रान्तिकारियों को आदर्शीकृत करके देखते हैं और उन्हें इस समाज द्वारा प्रदान की गयी कमज़ोरियों से पूरी तरह ऊपर उठ चुका मानते हैं। लेकिन क्या यह एक इन्सान को देवत्व प्रदान करना नहीं होगा? क्रान्तिकारी भी एक इन्सान ही होता है और उसके भीतर भी अलग-अलग प्रश्नों को लेकर लगातार द्वन्द्व चलता रहता है। हाँ! यह सच है कि एक क्रान्तिकारी के जीवन में भी कई बार निराशा और अवसाद के दौर आते हैं! साथी नवकरण ज़िन्दगी से लगातार इंक़लाबियों की जारी इस जद्दोजहद में हार गया। उसके साथियों की आँखें आज उसे ढूँढती हैं, भले ही उन्हें मालूम है कि अब नवकरण कभी वापस न आने के लिए जा चुका है। लेकिन यह साथी नवकरण के बारे में किसी को कोई फ़ैसला सुनाने का हक़ नहीं देता। कम्युनिस्ट आन्दोलन में पॉल लफार्ग, इलियानोर मार्क्स (मार्क्स की छोटी बेटी), लेखक अलेक्सान्द्र फदयेव, मायकोवस्की, वॉल्टर बेंजामिन और अनेक गुमनाम और उम्दा कम्युनिस्टों ने ख़ुदकुशी की है। न तो उनकी ख़ुदकुशी उनके विचारों, उनके संगठन और उनके लक्ष्य के प्रति कोई फैसला थी और न ही कोई अन्य व्यक्ति इस दुखदायी कदम को लेकर उन पर कोई फ़ैसला सुना सकता है। सवाल यहाँ तुलनाओं का नहीं है। साथी नवकरण बेशक़ हमारा एक उम्दा साथी था और उसके जाने के सदमे और दुख से हम अभी उबर नहीं सके हैं।

नवकरण पंजाब के संगरूर का रहने वाला था और तीन साल पहले क्रान्तिकारी आन्दोलन के सम्पर्क में आया था। भगतसिंह को वह अपना आदर्श मानता था। इस व्यवस्था की सभी नेमतों - गरीबी, शोषण, बहुसंख्यक आबादी का पिस-पिस कर जीना - को उसने अपनी आँखों से देखा था और भोगा था। वह जनता के दुख-दर्द को महसूस करता था। क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़कर समाज की सभी दिक्कतों को उसने वैज्ञानिक नज़रिये से समझना शुरू किया और एक नयी दुनिया का सपना अपनी आँखों में भरकर इस काम में पूरे जी-जान से जुट गया। अक्टूबर 2013 में उसने पेशेवर क्रान्तिकारी कार्यकर्ता का जीवन चुना और अपनी आखिरी साँस तक अपने मकसद के लिए कर्मठता से काम करता रहा। नयी चीज़ें सीखना व मुश्किल काम हाथ में लेना उसकी फ़ितरत थी। कुछ समय तक वह नौजवान भारत सभा की लुधियाना इकाई का संचालक रहा। साथ ही वह पंजाब स्टूडेण्ट्स यूनियन (ललकार) की नेतृत्वकारी कमिटी का भी सदस्य था। उसके सहयोग से लुधियाना में नौजवान भारत सभा व पंजाब स्टूडेण्ट्स यूनियन के कामों ने तेज़ी से विकास किया। वह सभी मोर्चों पर समान रूप से सक्रिय था - चाहे वह मज़दूर मोर्चा हो अथवा छात्र-नौजवान मोर्चा, सभी में उसकी अहम भूमिका थी। मज़दूर बस्तियों में जाकर विभिन्न तरीकों से प्रचार करना, मज़दूरों के बच्चों को पढ़ाना, जनता को विभिन्न मुद्दों पर लामबन्द करना, अखबार-पत्रिका-किताबें लेकर सघन रूप से क्रान्तिकारी साहित्य का प्रचार करना–इन सभी में वह जल्दी ही पारंगत हो गया था। वह बेहद उद्वेलित करने वाला भाषण भी देता था। अध्ययन वह लगातार करता था और पंजाबी पत्रिका 'ललकार' के लिए उसने विभिन्न राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर लिखने की भी शुरुआत की थी। एक धूमकेतु की तरह वह थोड़े से समय के लिए ही अपनी रोशनी बिखेरकर हमारे बीच से चला गया।

नवकरण को गाने का शौक था और आवाज़ भी उसकी बुलन्द थी। विभिन्न कार्यक्रमों में वह लगातार गाता था लेकिन उसकी असली प्रतिभा तो तब निकलकर आती थी जब वह साथियों के बीच अनौपचारिक तौर पर धुन छेड़ता था। सभी उसके सुर में सुर मिला लेते थे और साथ गाते थे। संगीत व

कला के महत्व को वह समझता था और यही कारण था कि बेहद शर्मीला होने पर भी गाते वक्त सब भूलकर खुलकर गाता था। मंच से पाश की कविताओं का पाठ करता था तो श्रोताओं की जोश से मुट्ठी तन जाती थी। वह अनुवादक भी अच्छा था और तेज़ी से अंग्रेजी से पंजाबी में अनुवाद करता था। हाल ही में उसने स्तालिन की पुस्तिका 'संगठन के बारे में' का अंग्रेज़ी से पंजाबी में अनुवाद किया था और एक-दो अन्य किताबों का भी अनुवाद कर रहा था।

नवकरण के बारे में सबसे उम्दा बात यह थी कि उसे श्रम से लगाव था। वह सारे ज़रूरी काम अपने हाथों से ही करता था – चाहे वह खाना बनाना हो, झाड़ू-पोछा करना हो, कपड़े धोना हो या बर्तन साफ करना हो। सामूहिक काम को भी वह कर्तव्यबोध से नहीं बल्कि पहलकदमी लेकर व ख़ुश होकर करता था। हमारे समाज में जहाँ शारीरिक श्रम को नीची नज़र से देखा जाता है वहीं नवकरण शारीरिक श्रम की श्रेष्ठता को समझता था। थकता तो वह ज़रूर होगा लेकिन किसी ने उसे कभी थककर निढाल होते हुए नहीं देखा।

नवकरण बेहद कम बोलता था व अन्तर्मुखी था। अपनी समस्याओं, परेशानियों के बारे में वह खुलकर बात नहीं करता था। साथियों के लगातार आग्रह करने पर ही कुछ पता चल पाता था। उसके करीबी साथियों का कहना है कि उसके राजनीतिक जीवन में कई बार निराशा के दौर भी आते थे। ज़्यादातर अपने मन की बातें वह अपने सबसे करीबी दोस्तों से भी साझा नहीं करता था। स्वभाव से वह काफी शर्मीला था। शायद यह भी एक वजह थी कि उसके साथियों को इस बात का ज़रा भी अहसास नहीं हो पाया कि आखिर क्या तूफान उसके मन में चल रहा था जिसके कारण उसने ऐसा कदम उठाया। अन्त में जो हमारे पास बचा है वह उसकी कुछ यादें ही हैं।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि क्रान्ति की राह पर चलता बेहद कठिन होता है। ऐसे में कभी-कभी निराश होना भी आम बात है। लेकिन एक क्रान्तिकारी उस वक्त पल भर के लिए दम लेता है और फिर पहले से भी अधिक ताक़त व ऊर्जा के साथ अपनी राह पर चल पड़ता है। अपने भीतर अंसख्य दुखों का भार उठाये हुए भी वह चलता ही जाता है। वैसे तो बहुतेरे लोग क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़ते हैं और थोड़े-बहुत दिनों के बाद जब उन्हें रास्ता अधिक कठिन लगता है तो वे इस रास्ते को छोड़ देते हैं और वापस अपने व्यक्तिगत जीवन में लग जाते हैं। कुछ लोग तो इतने स्वार्थी भी होते हैं कि अपनी कमज़ोरियों को छुपाने के लिए आन्दोलन को ही गालियाँ देने लगते हैं और भाग खड़े होते हैं। जो बात सबसे अहम है वह यह है कि नवकरण इन दोनों में से किसी भी किस्म का नौजवान नहीं था। थकान और निराशा ने उसे ज़रूर जकड़ा था लेकिन दुनियादार बन जाना उसकी नौजवानी को गवारा नहीं था। यह उसे गवारा नहीं था कि वह वापस उसी ज़िन्दगी में चला जाये जहाँ से वह आया था। ऐसी ज़िन्दगी उसे नामंज़ूर थी। अपने आखिरी समय तक नवकरण लूट पर टिकी इस व्यवस्था से शिद्दत से नफ़रत करता था और इसके ख़िलाफ़ संघर्ष से मुँह मोड़कर घर बैठने व अपने निजी स्वार्थों के लिए ही जीते रहना उसका रास्ता नहीं था।

उसके चले जाने से क्रान्तिकारी आन्दोलन को बड़ा आघात लगा है। यह किसी एक संगठन की क्षति नहीं बल्कि समूचे क्रान्तिकारी आन्दोलन की क्षति है। ऐसे ज़िन्दादिल नौजवान को श्रद्धांजलि का यही अर्थ है कि हम आज उसके देखे हुए सपनों को अपनी आँखों में भरकर क्रान्ति के बीहड़ रास्ते पर चलते जायें और उन सामाजिक कारकों को हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म कर देने की लड़ाई लड़ें जिनके कारण हमारा प्यारा साथी हमारे बीच नहीं है। नवकरण जीवन से हार अवश्य गया लेकिन उसका छोटा-सा राजनीतिक जीवन भी दूसरों को प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त है। 'मज़दूर बिगुल' से जुड़े सभी साथी दिल की गहराई से साथी नवकरण को क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि देते हैं और उसके सपनों को साकार करने का संघर्ष जारी रखने की शपथ को एक बार फिर दुहराते हैं। **साथी नवकरण को लाल सलाम! इंक़लाब ज़िन्दाबाद!**

"नागरिक अवज्ञा हमारी समस्या नहीं है। हमारी समस्या है नागरिकों की आज्ञाकारिता। हमारी समस्या है कि दुनियाभर में लोग नेताओं के तानाशाही आदेशों का पालन करते रहे हैं...और इस आज्ञाकारिता के कारण करोड़ों लोग मारे गये हैं। ...हमारी समस्या यह है कि दुनियाभर में ग़रीबी, भुखमरी, अज्ञान, युद्ध और क्रूरता का सामना कर रहे लोग आज्ञाकारी बने हुए हैं। हमारी समस्या यह है कि लोग आज्ञाकारी हैं जबकि जेलें मामूली चोरों से भरी हुई हैं... बड़े चोर देश को चला रहे हैं। यही हमारी समस्या है।"

— होवार्ड ज़िन्न (प्रसिद्ध अमेरिकी जनपक्षधर इतिहासकार, 1922–2010)

यदि जनबल पर विश्वास है तो हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जनता की दुर्दम्य शक्ति ने, फ़ासिज़्म की काली घटाओं में, आशा के विद्युत का संचार किया है। वही अमोघ शक्ति हमारे भविष्य की भी गारण्टी है।

— राहुल सांकृत्यायन

‘दिल्ली मास्टर प्लान 2021’ की भेंट चढ़ी ग़रीबों-मेहनतकशों की एक और बस्ती – शकूर बस्ती

दिल्ली में दो तरह के शहर हैं। एक तरफ हैं लकदक मोटरकारें, साफ-सुथरी चमचमाती हुई सड़कें, आलीशान मकान और कोठियाँ, रोशनी में नहाये हुए चमचमाते शॉपिंग मॉल, तेज़ रफ़्तार मेट्रो। और दूसरी तरफ हैं शकूरबस्ती, वजीरपुर, आज़ादपुर, झिलमिल, खजूरी आदि जैसी गन्दी बस्तियाँ जिनमें इस दिल्ली को साफ-सुथरा और चमकदार बनानेवाली लाखों ग़रीब और मेहनतकश आबादी रहती है। जिन्हें देखकर सूट-बूट वाले साहब और अमीरजादे नाक पर रूमाल रख लेते हैं, जहाँ अमीरों के घर का सारा कूड़ा फेंका जाता है, जहाँ बिजली नहीं, पानी नहीं, नालियों की निकासी का कोई इंतजाम नहीं, शौचालय नहीं, अस्पताल की बात तो दूर कोई सरकारी डिस्पेंसरी तक नहीं, शिक्षा का प्रबन्ध नहीं। उसपर भी उजाड़े जाने का खतरा चौबीसों घण्टे सिर पर मँडराता रहता है।

गाँवों से उजड़कर शहरों में बेहतर जीवन की आस में आयी ग़रीब मेहनतकश आबादी के लिए ‘महिमामयी दिल्ली’ किसी सुरसा से कम नहीं है। कदम-कदम पर बेतहाशा भीड़, असुरक्षा और अनिश्चितता झेलने को मजबूर होना पड़ता है। पक्के मकानों का महँगा किराया न दे पाने की सूरत में झुग्गियों में रहना पड़ता है। झुग्गियों का जीवन ऐसा है जैसे कोई नट या कलाबाज चौबीसों घण्टे हाथों में डण्डा थामे रस्सी पर खड़ा हो।

12-14 घण्टे हाड़-तोड़ मेहनत करने के बाद आराम करने के लिए दमघोंटू और अँधेरी झुग्गियों को आसरा बनाने वाले ग़रीबों और मेहनतकशों की ऐसी ही एक बस्ती है–शकूरबस्ती। पश्चिमी दिल्ली इलाके की इस बस्ती में 1,000 झुग्गियाँ हैं जिनमें लगभग 5,000 ग़रीब मेहनतकश आबादी रहती है। बताते चलें कि शकूरबस्ती दिल्ली में रेलवे की सबसे बड़ी सीमेण्ट साइडिंग है जहाँ अम्बुजा, जेपी, बिनानी जैसी कम्पनियों के सीमेंट की अनलोडिंग होती है और ट्रकों द्वारा दिल्ली-एनसीआर के गोदामों में सीमेंट पहुँचाया जाता है। जाहिर है यहाँ सीमेंट मज़दूरों की एक अच्छी तादाद झुग्गियों में रहने के लिए मजबूर है। इनके अलावा रिक्शा, रेहड़ी-पटरी-खोमचा वाले, ठेले वाले, स्वतंत्र दिहाड़ी मज़दूर, निर्माण मज़दूर, कारीगर आदि विभिन्न पेशों की ग़रीब मेहनतकश आबादी भी किसी तरह अपना गुजर-बसर करती है। ज़्यादातर आबादी बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश की है।

12 दिसम्बर 2015 को बिना किसी पूर्वसूचना के भारतीय रेलवे ने बुलडोज़र चलाकर इन झुग्गियों को उजाड़ दिया। उजाड़े जाने के दौरान एक छह महीने की बच्ची की मृत्यु हो गयी, कई बच्चे बुरी तरह घायल हुए। वयस्कों में भी ज़्यादातर को गम्भीर चोटें भी आयीं। दिल्ली की कड़कड़ाती ठण्ड में लोगों को खुले आसमान के नीचे कई रातें बितानी पड़ीं। झुग्गियाँ तोड़े जाने के दस दिनों तक बड़े-बड़े समाचार चैनलों और मीडिया का ताँता लगा रहा। मीडिया की कमाई होती रही और काँग्रेस, भाजपा, आप आदि सभी चुनावबाज पार्टियों के नेता भी पहुँचते रहे। कुछ ही दिन पहले, जुलाई-अगस्त की बारिश के मौसम में वजीरपुर की झुग्गियाँ उजाड़ी गयीं थीं और अब शकूरबस्ती को उजाड़ा जाना दिल्ली की सरकार पर सवालिया निशान खड़े करता है। खुद को जनता का सी.एम. बतानेवाले ‘मिस्टर क्लीन’ अरविन्द केजरीवाल के तमाम वायदे बस चुनावी जुमले ही साबित हुए हैं। चुनाव के समय झुग्गीवासियों से किये गये पक्के मकानों के वायदे हवामिठाई की तरह ग़ायब होते नज़र आ रहे हैं। और सत्ता में आने के बाद कोई भी झुग्गी न उजाड़े जाने का वायदा भी टाँय-टाँय फिस्स होकर रह गया है। जनता के सामने जब पोल-पट्टी खुलने लगती है तो केजरीवाल सारा जिम्मा मोदी सरकार पर डालते हुए हाथ झाड़ने लगते हैं। असलियत यह है कि अपने आका पूँजीपतियों की सेवा का जो काम मोदी डंके की चोट पर करता है वही काम केजरीवाल छुप-छुपाकर करता है। इस मसले पर भी ज़िम्मेदारी लेने की बजाय गोलमाल करने और लोगों के बीच में भ्रम फैलाने का काम भी दिल्ली सरकार और आम आदमी पार्टी के कार्यकर्ताओं द्वारा बखूबी किया गया। चाहे वह भाजपा हो, आप हो या काँग्रेस हो; इनमें से किसी भी नेता के लिए झुग्गियाँ उजाड़े जाने के बाद लोगों का बेरोज़गार हो जाना मसला नहीं था। किसी भी नेता के लिए यह

सरोकार का विषय नहीं था कि बच्चों की परीक्षाएँ छूटीं और उनकी पढ़ाई बाधित हुई। राहत सामग्री के नाम पर जो खाना पहुँचाया गया वह न तो खाने योग्य था और न ही पर्याप्त मात्रा में दिया जा रहा था। छह-सात लोगों के परिवार को एक छोटी प्लेट में खिचड़ी दी जा रही थी। जो कम्बल आदि बाँटे गये वह भी सुनियोजित वितरण के अभाव में अपराधी और लम्पट तत्वों की भेंट चढ़ गये। मेडिकल सेवा की व्यवस्था भी रामभरोसे ही थी। बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं द्वारा झुग्गी उजाड़े जाने के बाद से लगातार वहाँ मेडिकल कैम्प का आयोजन किया जा रहा है और बच्चों को पढ़ाने का काम भी शुरू किया गया है।

ज्ञात हो कि दिल्ली में झुग्गी-झोपड़ी क्लस्टर के पुनर्स्थापन और पुनर्वास की जिम्मेदारी दिल्ली शहरी आश्रय सुधार बोर्ड (डी.यू.एस.आई.बी.) की है जो दिल्ली सरकार के अन्तर्गत आता है। दिल्ली में 63 प्रतिशत ज़मीन जिस पर झुग्गियाँ खड़ी हैं, डीडीए और रेलवे की है जो कि केन्द्र सरकार के अन्तर्गत आती है। और बाकी बची ज़मीन पीडब्ल्यूडी, एमसीडी, डीयूएसआईबी के अन्तर्गत आती है। ऐसे में केन्द्र और राज्य सरकार क़ानून के लचरपन का फायदा उठाते हुए झुग्गीवासियों को बेघर करने के बाद उनके प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़ लेती है। चाहे केन्द्र सरकार उस ज़मीन की मालिक हो जिस पर झुग्गियाँ खड़ी हों या राज्य सरकार, झुग्गियों को तोड़ने से पहले उस इलाके का सर्वेक्षण करके यह सुनिश्चित करना ज़रूरी होता है कि कितने लोगों को पुनर्वासित करने का इन्तज़ाम करना है। इसके लिए केन्द्र सरकार के महकमों जैसे डीडीए और रेलवे को डीयूएसआईबी को इसकी जानकारी मुहैया करना ज़रूरी है कि वे फलाँ इलाके में झुग्गियाँ तोड़ने वाले हैं। और राज्य सरकार के अन्तर्गत आने वाले महकमे जैसे एमसीडी या पीडब्ल्यूडी चाहें तो यह काम ख़ुद कर सकते हैं या फिर डीयूएसआईबी को सौंप सकते हैं। कोई सख़्त क़ानून न होने के कारण अकसर ऐसा देखा गया है कि कभी रेलवे या डीडीए झुग्गियों को तोड़ देता है और केन्द्र सरकार के इन विभागों से सूचना न मिलने की सूरत में राज्य सरकार का डीयूएसआईबी विभाग झुग्गीवासियों की पुनर्स्थापना में ख़ुद को अक्षम बताकर बच निकलता है।

इस मसले पर भी रेलवे द्वारा यह दलील दी गयी कि जो झुग्गियाँ बसी हुई थीं वे सुरक्षा क्षेत्र (सेफ्टी ज़ोन) के अन्तर्गत आती थीं। ‘सेफ्टी जोन’ यानी सुरक्षा क्षेत्र का मतलब है रेल की पटरियों के आस-पास पन्द्रह मीटर ज़मीन का दायरा। यह है सरकार के लिए ‘‘सुरक्षा’’ का मतलब जिसमें 5000 आबादी को कड़कड़ाती ठण्ड में बेघर कर दिया गया और उन्हें रामभरोसे छोड़ दिया गया! जबकि रहने का आश्रय लेना किसी भी नागरिक का संविधान सम्मत बुनियादी अधिकार है और उसके घर को तोड़ा नहीं जा सकता। नियमतः सरकार की कोई भी एजेंसी तबतक लोगों को किसी जगह से नहीं हटा सकती जबतक कि उनके रहने की वैकल्पिक व्यवस्था न हो जाये। लेकिन जब बात ग़रीबों की हो तो ये सारे नियम क़ानून ताक़ पर धरे रह जाते हैं। तब सरकारों के पास ग़रीब मेहनतकश आबादी को बसाने के लिए ज़मीन नहीं होती है। और जब अमीरजादों की ऐयाशियों के लिए शॉपिंग मॉल और होटल बनाने हों तो हज़ारों मज़दूरों को औनी-पौनी दिहाड़ी देकर खटवाया जाता है और रातों-रात इमारतें खड़ी की जाती हैं। 2010 में कॉमनवेल्थ खेलों के समय 50,000 झुग्गियों को तोड़ा गया और उनके पुनर्वास का काम अभी तक नहीं किया गया है। साफ तौर पर एक ऐसी मुनाफ़ाखोर व्यवस्था जिसमें इंसान और उसकी मेहनत सिर्फ एक माल हो, जहाँ आदमी को बाज़ार में बिकना पड़ता हो, जहाँ हर चीज़ के केन्द्र में पैसा हो वहाँ और उम्मीद भी क्या की जा सकती है? और तो और हर पाँच साल में आनेवाली सरकारों में फर्क बस इतना है कि नारे, चेहरे और झण्डे बदलते हैं। बाकी, नीतियाँ सबकी वही होती हैं- अमीरों धन्नासेठों को पूजो, आबाद करो और जनता को लूटो और बर्बाद करो! दरअसल संसद बहसबाजी का अड्डा है, सुअरबाड़ा है और ये तमाम सरकारें टाटा, बिड़ला, अम्बानी और अदानी जैसे पूँजीपतियों की चाकर हैं।

दरअसल दिल्ली में लगातार झुग्गियों को इसलिए भी तोड़ा जा रहा है ताकि दिल्ली को एक ‘‘विश्वस्तरीय’’ शहर बनाया जा सके। अमीरों के लिए झुग्गियाँ शहर की खूबसूरती पर बदनुमा दाग की तरह होती हैं। उन्हें लगता है कि झुग्गियों ने शहर को गन्दा कर रखा है इसलिए उजाड़कर शहर के बाहर बसा देना चाहिए। इसके लिए केन्द्र सरकार और राज्य सरकार दोनों ही काम कर रही है। केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकार को करोड़ों रुपये दिये गये हैं ताकि शहर के बीच में बसी झुग्गियों को खाली कराया जा सके। 2011 में डीयूएसआईबी ने दिल्ली को 2015 तक झुग्गी मुक्त शहर बनाने की योजना की घोषणा की थी जिसके तहत झुग्गी-झोपड़ी क्लस्टरों की पुनर्स्थापना की जानी थी। यह घोषणा राजीव आवास योजना के तहत वित्तीय सहायता देने के लिए की गयी थी, मगर सिर्फ़ घोषणाएँ कर देने से समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता। पहले से निर्धारित 685 अनियमित झुग्गी कॉलोनियों को नियमित करने का काम अभी तक ठीक से शुरू भी नहीं किया गया है, ऐसे में दिल्ली को झुग्गी मुक्त शहर बनाने का मतलब है केवल झुग्गियों को तोड़ना और लोगों को बेघर करना। इस व्यवस्था में झुग्गी में रहने वाले लोगों को एक नागरिक के तौर पर नहीं, बल्कि सरकारी सम्पति पर अतिक्रमण करने वाले अपराधियों की नज़र से देखा जाता है।

आम जनता में भी यही अवधरणा प्रचलित है कि झुग्गीवालों की जिम्मेदारी सरकार की नहीं है जबकि सच इसके बिलकुल उलट है। झुग्गियों में रहने वाले लोगों को छत मुहैया कराने की जिम्मेदारी राज्य की होती है। हम माचिस की डिबिया से लेकर अपने ज़रूरत की जितनी भी चीज़ें खरीदते हैं, उनके मूल्य के साथ-साथ अप्रत्यक्ष कर भी देते हैं। इस अप्रत्यक्ष कर के रूप में सरकार हर साल खरबों रुपया आम मेहनतकश जनता से वसूलती है। हर साल देश के सरकारी खजाने का तीन-चौथाई से अधिक जनता की जेब से ही आता है। इस पैसे से रोज़गार के नये अवसर और झुग्गीवालों को मकान देने के बजाय सरकार अदानी-अम्बानी को सब्सिडी देने में खर्च कर देती है। केवल एक खास समय के लिए झुग्गीवासियों को नागरिकों की तरह देखा जाता है और वह समय होता है ठीक चुनाव से पहले। चुनाव से पहले सभी चुनावबाज पार्टियाँ बरसाती मेंढ़कों की तरह टर्राना शुरू कर देती हैं। चुनाव के समय तमाम नेता झुग्गियों की जगह मकान देने का वादा करके झुग्गीवासियों को लुभाने का भरसक प्रयास करते हैं। और जीत जाने के बाद अपने वायदों को भूलकर आलीशान मकानों में चैन की नींद सोते हैं।

बात साफ है कि इस या उस चुनावी पार्टी की बाट जोहने की बजाय अपनी लड़ाई खुद के दम पर खड़ी करनी पड़ेगी। कोई नेता-मंत्री, मसीहा या अवतार हमारी लड़ाई को लड़ने के लिए नहीं आयेगा।

चुनावबाज पार्टियों के दल्लों, छुटभैये नेताओं और स्थानीय गुण्डों को सबक सिखाया शकूरबस्ती के लोगों ने

झुग्गियों के उजड़ने के बाद जैसे चुनावबाज पार्टियों के नेता अपने वोट बैंक को बचाने के लिए मीडिया के सामने सफाई देना शुरू कर देते हैं उसी तरह दल्लों, छुटभैये नेताओं और गुण्डों की बहार आ जाती है। राहत सामग्रियों को बाजार में बेचने का धन्धा चलता है। अफवाहों का बाज़ार गर्म किया जाता है और लोगों को डराकर पैसे ऐंठे जाते हैं। इन तमाम दल्लों का धन्धा ग़रीबों, मेहनतकशों की गाढ़ी कमाई को लूटकर ही चलता है। अपनी झूठी बातों और सरकारी दफ्तरों के जंजाल का भय लोगों में बिठाकर आधार कार्ड, पहचान पत्र बनवाने से लेकर स्कूल में बच्चे का दाखिला करवाने तक में ये दल्ले पाँच सौ से हजार रुपये तक वसूलते हैं। लेकिन, इतने पर भी सही काम की कोई गारण्टी नहीं होती। चुनावों के समय तमाम पार्टियों से पैसे लेकर वोट खरीदने का काम भी खूब करते हैं और खुद को बस्ती का प्रधान भी घोषित कर लेते हैं और अपने फेंके टुकड़ों पर पलने वाले गुर्गे भी तैयार कर लेते हैं। इन तमाम दल्लों और गुण्डों को पुलिस से लेकर

(पेज 9 पर जारी)

रोहित वेमुला की सांस्थानिक हत्या के विरोध में देशभर में विरोध प्रदर्शन

छात्र कार्यकर्ता और शोधछात्र रोहित वेमुला की संस्थानिक हत्या के विरोध में देश भर में विभिन्न जनसंगठनों और छात्र-युवा संगठनों ने विरोध प्रदर्शनों का आयोजन किया। आपको ज्ञात हो कुछ ही दिन पहले एकदम गैरकानूनी और तानाशाहपूर्ण तरीके से हैदराबाद विश्वविद्यालय प्रशासन ने पाँच दलित छात्रों को छात्रावास से बाहर निकाल दिया था। उनका ''कुसूर'' यह था कि उन्होंने लोगों को धर्म के नाम पर बाँटने की साम्प्रदायिक संघी राजनीति की ख़िलाफ़त की थी। पिछली 17 जनवरी को उनमें से एक छात्र रोहित वेमुला ने आत्महत्या कर ली। असल में यह आत्महत्या नहीं बल्कि भाजपा सरकार व विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा अंजाम दी गयी हत्या थी।

असल में विश्वविद्यालय प्रशासन और मानव संसाधन मंत्री स्मृति ईरानी, श्रम मंत्री बण्डारू दत्तात्रेय ही रोहित की मौत के लिए ज़िम्मेदार हैं। इन्हीं की प्रताड़ना का शिकार होकर एक नौजवान ने फाँसी लगा ली। उसका दोष क्या था? यही कि उसने धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों के ख़िलाफ़ आवाज उठायी थी। रोहित की मौत की ज़िम्मेदार वे ताकतें हैं जो लोगों के आवाज़ उठाने और सवाल उठाने पर रोक लगाना चाहती हैं और आज़ाद ख़याल रखने वाले लोगों को गुलाम बनाना चाहती हैं। ऐसी ताकतों के ख़िलाफ़ संघर्ष आज हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती है। साम्प्रदायिक-फासीवाद से संघर्ष करना अब हम और नहीं टाल सकते। इससे पहले कि कई रोहितों के गले घोंट दिये जायें हमें अपने संघर्ष की तैयारी करनी होगी और जाति-धर्म की दीवारों को गिराकर बड़ी ताकत के रूप में देश के छात्रों-युवाओं, मेहनतशों, मज़दूरों-किसानों को संगठित होना होगा। अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच, दिशा छात्र संगठन, नौजवान भारत सभा, नई दिशा छात्र मंच, यूनिवर्सिटी कम्यूनिटी फॉर डेमोक्रेसी एण्ड इक्वेलिटी, पंजाब स्टूडेण्ट यूनियन (ललकार), जागरूक नागरिक मंच इत्यादि संगठनों ने देश के विभिन्न हिस्सों में विरोध प्रदर्शन आयोजित किये।

उक्त विरोध प्रदर्शनों में एम.एच.आर.डी. और भाजपा सरकार के दलित, गरीब और छात्र विरोधी रवैये की कड़ी निन्दा की गयी। विभिन्न वक्ताओं के द्वारा लोगों से बात की गयी कि न केवल शिक्षा-रोजगार-चिकित्सा के मुद्दे हमारे एजेण्डे में हों बल्कि हमें सामाजिक गैरबराबरी-जातिवाद-धार्मिक कट्टरता के ख़िलाफ़ भी आवाज़ उठानी होगी। तमाम अस्मितावादी यानि पहचान की राजनीति करने वाले लोग आज या तो चुप हैं या फ़िर इस मुद्दे को वोट बैंक के लिए इस्तेमाल करने की फ़िराक में हैं। इसलिए हमें दलित मुक्ति के संघर्ष को व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्ष के साथ जोड़ते हुए इसे अस्मितावाद और पहचान की राजनीति के चंगुल से भी मुक्त कराना होगा।

चित्रों के साथ दिये ब्यौरों के अलावा, 23 जनवरी को धमतान साहिब, नरवाना, जिला जीन्द, हरियाणा में नौजवान भारत सभा और अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच के द्वारा उक्त मुद्दे पर विरोध प्रदर्शन और पुतला दहन का आयोजन किया गया और 8 फ़रवरी को पटना में दिशा छात्र संगठन, अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच और अन्य जनसंगठनों ने मिलकर विरोध मार्च का आयोजन किया जो एन.आई.टी. मोड़ से शुरू होकर अशोक राजपथ होते हुए भगतसिंह चौक तक पहुँचा।

-बिगुल संवाददाता

19 जनवरी को मुम्बई विश्वविद्यालय के कलीना कैम्पस में प्रदर्शन करते यूनिवर्सिटी कम्यूनिटी फॉर डेमोक्रेसी एण्ड इक्वेलिटी, अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच, दिशा छात्र संगठन और अन्य जन-संगठनों के सदस्य।

18 जनवरी को एम.एच.आर.डी. के बाहर प्रदर्शनरत विभिन्न संगठनों के सदस्य और छात्र-नौजवान। इस मौके पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा ने भी शिरकत की। दिल्ली सरकार की तरफ़ से इस प्रदर्शन पर बुरी तरह से लाठी चार्ज किया गया और कइयों को गिरफ़्तार भी कर लिया गया। इसके बावजूद छात्र-युवा संघर्ष में डटे रहे।

21 जनवरी को लखनऊ में प्रदर्शन करते अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच, नई दिशा छात्र मंच, नौजवान भारत सभा, जागरूक नागरिक मंच और विभिन्न जनसंगठनों के सदस्य। यह प्रदर्शन जी.पी.ओ. स्थित गाँधी प्रतिमा के सामने किया गया।

19 जनवरी को चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय में पंजाब स्टूडेण्ट यूनियन (ललकार), नौजवान भारत सभा ने अन्य छात्र संगठनों और जनसंगठनों के साथ मिलकर विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया।

23 जनवरी को दिशा छात्र संगठन ने महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा में विरोध सभा का आयोजन किया और उक्त घटना पर व्यापक परचा वितरण भी किया।

22 जनवरी को पंजाब स्टूडेण्ट यूनियन (ललकार) ने नेहरु मेमोरियल गवर्नमेण्ट कॉलेज, मानसा, पंजाब में विरोध प्रदर्शन और सभा का आयोजन किया।

21 जनवरी को नौजवान भारत सभा और अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच ने कलायत, कैथल, हरियाणा में विरोध जुलूस का आयोजन किया और स्मृति ईरानी व बण्डारू दत्तात्रेय का पुतला दहन करके उक्त घटना का विरोध किया।

23 जनवरी को इलाहाबाद में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा ने अन्य जनसंगठनों के साथ मिलकर विरोध जुलूस का आयोजन किया। इलाहाबाद के पी.डी. टण्डन पार्क, सिविल लाइन्स से सुभाष चौराहे तक प्रतिरोध मार्च भी निकाला गया।

रोहित वेमुला की सांस्थानिक हत्या से उपजे कुछ अहम सवाल जिनका जवाब जाति-उन्मूलन के लिए ज़रूरी है!

हैदराबाद विश्वविद्यालय के मेधावी शोधार्थी और प्रगतिशील कार्यकर्ता रोहित चक्रवर्ती वेमुला की सांस्थानिक हत्या ने पूरे देश में छात्रों-युवाओं के बीच एक ज़बर्दस्त उथल-पुथल पैदा की है। देश के तमाम विश्वविद्यालयों, शैक्षणिक संस्थानों और शहरों में छात्रों-युवाओं से लेकर आम नागरिक तक रोहित वेमुला के लिए इंसाफ़ की ख़ातिर सड़कों पर उतर रहे हैं। रोहित वेमुला अम्बेडकर छात्र संघ से जुड़े एक छात्र कार्यकर्ता और शोधार्थी थे जिन्होंने 17 जनवरी को आत्महत्या कर ली थी। मगर यह आत्महत्या नहीं बल्कि ऐसी हत्या थी जिसमें न तो लहू का सुराग मिलता है और न ही हत्यारे का निशान।

रोहित को किसने मारा?

रोहित और उसके साथी हैदराबाद विश्वविद्यालय के कैम्पस में संघी गुण्डों और फ़ासीवादियों के विरुद्ध लगातार सक्रिय थे। उन्होंने जनभावनाओं को तुष्ट किये जाने के नाम पर तमाम तथाकथित आतंकवादियों को फाँसी की सज़ा सुनाने, बीफ़ बैन का विरोध करने, साम्प्रदायिक फासीवादी भगवा गिरोह का पर्दाफ़ाश करने वाली पिफल्म 'मुज़फ्फरनगर बाकी है' का प्रदर्शन करने से लेकर जातिवादी उत्पीड़न के विरुद्ध कैम्पस में सक्रिय तमाम उच्चजाति वर्चस्वादी और फासीवादी ताक़तों की लगातार मुख़ालफ़त की थी और वे इन ताक़तों के लिए एक चुनौती बन गये थे। नतीजतन, संघी छात्र संगठन ए.बी.वी.पी. के एक कार्यकर्ता की झूठी शिकायत पर एक केन्द्रीय मन्त्री बण्डारू दत्तात्रेय ने मानव संसाधन मन्त्री स्मृति ईरानी को इस मसले पर कार्रवाई करने के लिए पत्र लिखा। इसके बाद, मानव संसाधन मन्त्रालय की ओर से हैदराबाद विश्वविद्यालय को पाँच पत्र भेजे गये जिसमें रोहित वेमुला और उसके कुछ साथियों को विश्वविद्यालय से निकालने के लिए विश्वविद्यालय प्रशासन पर दबाव डाला गया था। जुलाई 2015 से ही रोहित की नेट फेलोशिप कुछ आधिकारिक समस्याओं का बहाना बनाकर रोके रखी गयी थी। रोहित वेमुला एक मज़दूर-वर्गीय परिवार से आता था और उसके परिवार के ख़र्च का बड़ा हिस्सा उसकी फेलोशिप से आता था। ऐसे में समझा जा सकता है कि रोहित पर किस किस्म का आर्थिक दबाव पैदा किया गया था। इसके बाद रोहित और उसके चार साथियों को छात्रावास से निकाल दिया गया और विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। उन्हें विश्वविद्यालय के सार्वजनिक स्थानों से प्रतिबन्धित तक कर दिया गया। इस कदर निशाना बनाये जाने और उत्पीड़न का शिकार होने के चलते रोहित काफी समय से अवसादग्रस्त था और विज्ञान, प्रकृति और तारों की दुनिया के अन्वेषण के अपने खूबसूरत सपनों को लिये हुए उसने अन्ततः आत्महत्या कर ली।

अब भाजपा सरकार यह दुहाई दे रही है कि आत्महत्या से पहले लिखे गये रोहित के नोट में उसने सरकार को दोषी नहीं ठहराया है! मगर सभी जानते हैं कि रोहित ने पहले ही उत्पीड़न से तंग आकर विश्वविद्यालय प्रशासन को लिखे गये एक पत्र में सभी दलित छात्रों के लिए रस्सी और ज़हर की माँग की थी। ग़ौरतलब है कि हैदराबाद विश्वविद्यालय में पिछले एक दशक में नौ दलित छात्र आत्महत्या कर चुके हैं और पूरे देश के उच्च शिक्षा संस्थानों की बात करें तो लगभग 18 दलित छात्र 2007 से अब तक आत्महत्या कर चुके हैं। यह भी ग़ौरतलब है कि इनमें से लगभग सभी छात्र मेहनतकश घरों या निम्नमध्यवर्गीय ग़रीब परिवारों से आते थे। हैदराबाद विश्वविद्यालय में ऐसे छात्रों को शोध गाइड देने में देरी करने या अक्षमता ज़ाहिर करने से लेकर छोटे-बड़े सभी शैक्षणिक कार्यों में आनाकानी करने का काम विश्वविद्यालय प्रशासन करता रहा है। छात्रों के बीच भी दलित छात्रों के साथ एक अनकहा पार्थक्य मौजूद रहता है। ऐसे में कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि रोहित सरीखे तेज़-तर्रार और संवेदनशील छात्र के 'मस्तिष्क और शरीर के बीच'दूरी क्यों और कैसे पैदा हुई थी। रोहित एक ऐसी व्यवस्था और एक ऐसे समाज में मौजूद एक संवेदनशील, विद्रोही और ज़हीन नौजवान था जिस समाज में 'हर व्यक्ति को उसकी तात्कालिक पहचान, एक वोट, एक वस्तु'तक सीमित कर दिया जाता है; जिसमें इंसान की पहचान उसके दिमाग़ और उसकी सोच से नहीं बल्कि उसकी जाति और अमीरी-ग़रीबी के पैमाने पर होती है; जिसमें एक ऐसी सरकार का शासन मौजूद है जो लोगों के खान-पान, उनके धर्म और उनकी जाति को आधार बनाकर उनके विरुद्ध बर्बर उन्माद फैलाती है और कारपोरेट घरानों की दलाली में ग़रीब और दलित व आदिवासी जनता, स्त्रियों व अल्पसंख्यकों के हर प्रकार के आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न का आधार तैयार करती है; जिसमें विज्ञान की कांग्रेस में गल्पकथाएँ सुनायी जाती हैं और कोई कुछ नहीं बोलता और जिसमें इसरो के प्रमुख रह चुके वैज्ञानिक संघी बर्बरों के मंच से फासीवादी सैल्यूट मारते हैं! रोहित ने इसके ख़िलाफ़ एक प्रतिबद्ध लड़ाई की शुरुआत की। मगर पहले एक संसदीय वामपंथी पार्टी के छात्र संगठन में और बाद में एक अम्बेडरवादी छात्र संगठन में भी अपने आपको तमाम दोस्तों की मदद और लगाव के बावजूद अकेला पाया। एक ऐसी व्यवस्था और समाज में रोहित वेमुला जैसे संवेदनशील, इंसाफ़पसन्द और ज़हीन नौजवान ने अपने आपको पाया जिसमें उसे अपना जन्म ही एक 'भयंकर दुर्घटना' लगने लगी। और अन्ततः उसने ज़िन्दगी की बजाय मौत में सुकून की तलाश की। रोहित वेमुला की इस बेसुराग़ हत्या ने पूरी व्यवस्था पर एक सवालिया निशान खड़ा कर दिया है और यही सवालिया निशान आज तमाम छात्रों-युवाओं को देश भर में उद्वेलित कर रहा है। लेकिन एक पूरी सरकार और उसकी भारी-भरकम मशीनरी रोहित वेमुला और उसके साथियों जैसे आम छात्रों के पीछे इस कदर हाथ धोकर क्यों पड़ गयी थी? आख़िर रोहित का गुनाह क्या था?

रोहित और उसके साथियों का गुनाह क्या था?

रोहित और उसके साथियों का सबसे बड़ा गुनाह यह था कि उन्होंने देश में सत्ताधारी बन चुके साम्प्रदायिक फासीवादी गिरोह के विरुद्ध हैदराबाद विश्वविद्यालय में न सिर्फ़ आवाज़ उठायी थी बल्कि छात्रों को गोलबन्द और संगठित भी किया था। फासीवाद की तमाम ख़ासियतों में से एक यह होती है कि वह किसी भी किस्म के राजनीतिक विरोध को बर्दाश्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि एफटीआईआई के छात्रों की जायज़ माँगों को कुचला गया, सन्दीप पाण्डेय नामक गाँधीवादी शिक्षक को नक्सली और राष्ट्रद्रोही होने का आरोप लगाकर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया, सिद्धार्थ वरदराजन जैसे सम्मानित पत्रकार को इलाहाबाद विश्वविद्यालय में व्याख्यान नहीं देने दिया गया, अरुंधति रॉय को एक राजनीतिक कैदी के अधिकारों की वकालत करने के संवैधानिक काम के लिए भी निशाना बनाया जा रहा है। और यही कारण है कि रोहित और उसके साथियों को पिछले कई माह से हैदराबाद विश्वविद्यालय प्रशासन सीधे केन्द्र सरकार के इशारों पर तरह-तरह से उत्पीड़ित कर रहा था। रोहित और उसके साथी संघी गुण्डों के लिए एक चुनौती बन गये थे। यह सबसे बड़ा कारण है कि रोहित और उसके साथियों के पीछे समूची सरकार इस कदर पड़ी हुई थी।

रोहित और उसके साथियों को इस कदर निशाना बनाया जाने का दूसरा कारण यह है कि दलित होने के कारण वे पहले से ही समाज के अरक्षित व कमज़ोर तबके से आते हैं और उन्हें इतने नंगे तौर पर और अनैतिक तरह से सरकार द्वारा निशाना बनाया जाना आसान है। यहाँ यह भी ग़ौरतलब है कि रोहित एक मेहनतकश परिवार से ताल्लुक रखता था। यह भी उसकी अवस्थिति को और ज़्यादा अरक्षित बनाता था। मौजूदा फासीवादी सरकार हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को बर्बरता के साथ कुचल रही है, चाहे वह सीधे सरकारी मशीनरी का इस्तेमाल करे या फिर अपनी अनौपचारिक गुण्डा वाहिनियों का। लेकिन उनके लिए मुसलमानों व अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों और विशेष तौर पर ग़रीब दलितों को निशाना बनाना अपेक्षाकृत आसान होता है। बीफ खाने या आपूर्ति करने के झूठे आरोपों के ज़रिये अख़लाक और अनेक धार्मिक अल्पसंख्यकों की हत्या इसी बात की ओर इशारा करती है। और रोहित की संस्थानिक हत्या भी इसी चीज़ को पुष्ट करती है। स्पष्ट है कि मौजूदा फासीवादी सरकार के लिए विशेष तौर पर और अन्य लुटेरी सरकारों के लिए आम तौर पर दलित तबके 'सॉफ्ट टारगेट' होते हैं क्योंकि वे पहले से ही समाज के अरक्षित तबके से आते हैं। समाज में मौजूद जातिगत भेदभाव और पूर्वाग्रह व ब्राह्मणवादी पदानुक्रम व श्रेष्ठता की विचारधारा का पिछड़ी जातियों व एक हद तक दलित जातियों तक में प्रभाव इस बात को सुनिश्चित करता है कि ग़रीब दलितों की हत्याएँ बिना किसी सज़ा के डर के की जा सकती हैं। बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे, खैरलांजी, मिर्चपुर, गोहाना, भगाणा काण्ड तक क्या इस तथ्य की गवाही नहीं देते? आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न यहाँ आकर आपस में गुंथ जाते हैं और दोनों ही एक-दूसरे को बढ़ावा देते हैं। जो लोग ऐसा समझते हैं कि आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न दो अलग चीज़ें हैं और इनके समाधान के लिए दो अलग विचारधाराओं की ज़रूरत है, वे न तो आर्थिक शोषण को समझते हैं और न ही सामाजिक उत्पीड़न को। और न ही वे यह समझते हैं कि ऐसे किसी भी सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का प्रोजेक्ट प्रथमतः एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण की माँग करता है न कि परस्पर विपरीत या असंगत विचारधाराओं के व्यवहारवादी मिश्रण अथवा समन्वय की।

रोहित वेमुला का गुनाह यह था कि उसने एक दलित होकर, एक अरक्षित व कमज़ोर तबके से आकर उच्च शिक्षा के एक संस्थान में अपनी मेधा का लोहा ही नहीं मनवाया बल्कि तमाम धनिकवर्गीय फासीवादी व ब्राह्मणवादी वर्चस्ववादी ताक़तों का विरोध किया और इन ताकतों के एक लिए एक चुनौती बन गया। रोहित की आत्महत्या एक विद्रोह थी, सम्भवतः हताश विद्रोह, मगर फिर भी एक विद्रोह, और इस रूप में रोहित ने अपनी मौत की बाद भी व्यवस्था को चुनौती देना बन्द नहीं किया है।

रोहित के लिए इंसाफ़ की लड़ाई के अस्मितावादी नज़रिये की सीमाएँ और सही नज़रिये का सवाल

रोहित वेमुला के लिए न्याय का संघर्ष पूरे देश के कैम्पसों और शहरों में जारी है। देश भर में लगातार प्रदर्शन और धरने हो रहे हैं। स्मृति ईरानी से इस्तीफ़े की माँग की जा रही है जो कि कतई जायज़ है। साथ ही हैदराबाद विश्वविद्यालय के वीसी को बर्ख़ास्त किये जाने की न्यायपूर्ण माँग भी उठायी जा रही है। लेकिन साथ ही इस लड़ाई में कुछ समस्याएँ भी हमारे सामने मौजूद हैं जिनको दूर नहीं किया गया तो दक्षिणपंथी फासीवादी ब्राह्मणवादी ताक़तें ही मज़बूत होंगी।

रोहित के ही शब्दों में उसकी शख़्सियत, सोच और संघर्ष को उसकी तात्कालिक अस्मिता (पहचान) तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि रोहित इसके ख़िलाफ़ था, बल्कि इसलिए कि यह अन्ततः जाति उन्मूलन की लड़ाई को भयंकर नुकसान पहुँचाता है। हम आज रोहित के लिए इंसाफ़ की जो लड़ाई लड़ रहे हैं और रोहित और उसके साथी हैदराबाद विश्वविद्यालय में फासीवादी ब्राह्मणवादी ताक़तों के विरुद्ध जो लड़ाई लड़ते रहे हैं वह एक राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष है। यह अस्मिताओं का संघर्ष न तो है और न ही इसे बनाया जाना चाहिए। अस्मिता की ज़मीन पर खड़े होकर यह लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती है। इसका फ़ायदा किस प्रकार मौजूदा मोदी सरकार उठा रही है इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अब भाजपा व संघ गिरोह हैदराबाद विश्वविद्यालय के संघी छात्र संगठन के उस छात्र की जातिगत पहचान को लेकर गोलबन्दी कर रहे हैं, जिसकी झूठी शिकायत पर रोहित और उसके साथियों को निशाना बनाया गया। स्मृति ईरानी ने यह बयान दिया है कि उस बेचारे (!) छात्रा को इसलिए निशाना बनाया जा रहा है क्योंकि वह ओबीसी है! वास्तव में, ओबीसी तो अम्बेडकरवादी राजनीति के अनुसार दलित जातियों की मित्र जातियाँ हैं और इन दोनों को मिलाकर ही 'बहुजन समाज' का निर्माण होता है। मगर देश में जातिगत उत्पीड़न की घटनाओं पर करीबी नज़र रखने वाला कोई व्यक्ति आपको बता सकता है कि पिछले कई दशकों से हरियाणा से लेकर महाराष्ट्र और आन्ध्र से लेकर तमिलनाडु तक ग़रीब और मेहनतकश दलित जातियों की प्रमुख उत्पीड़क जातियाँ ओबीसी में गिनी जाने वाली तमाम धनिक किसान जातियाँ हैं। शूद्र जातियों और दलित जातियों की पहचान के आधार पर एकता करने की बात आज किस रूप में लागू होती है? क्या आज देश के किसी भी हिस्से में – उत्तर प्रदेश में, हरियाणा में, बिहार में, महाराष्ट्र में, आन्ध्र में, तेलंगाना में, कर्नाटक या तमिलनाडु में – जातिगत अस्मितावादी आधार पर तथाकथित 'बहुजन समाज' की एकता की बात करने का कोई अर्थ बनता है? यह सोचने का सवाल है।

जाति का सच हमारे समाज का एक प्रमुख सच है। जातिगत उत्पीड़न को महज़ सामाजिक उत्पीड़न समझना बहुत बड़ी भूल है। इसे केवल सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य-मान्यताओं के जगत और हिन्दू धर्म तक सीमित कर देना एक बड़ी भूल है। जातिगत उत्पीड़न आज आर्थिक शोषण को अतिशोषण में तब्दील करने के एक बड़े औज़ार का काम करता है। और आर्थिक शोषण और लूट भी पलटकर जातिगत उत्पीड़न के बर्बरतम रूपों को जन्म देते हैं। हाल

(पेज 10 पर जारी)

"देशभक्ति" के गुबार में आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी के ज़रूरी मुद्दों को ढँक देने की कोशिश

(पेज 1 से आगे)

से अलग सोचता है, उसकी नीति की आलोचना करता है, जो भी अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाता है उसे तुरन्त ही देशद्रोही और राष्ट्रद्रोही घोषित कर दिया जाता है। अम्बानियों और अदानियों के टुकड़ों पर पलने वाला कारपोरेट मीडिया भी इन तथाकथित ''देशभक्तों'' के सुर में सुर मिलाता है और अपने स्टूडियो में ही मुकदमा चलाकर फैसला सुना डालता है!

फासीवाद की आहट अब हमारे दरवाज़ों पर सुनायी दे रही है। दिल्ली के पटियाला हाउस कोर्ट में जिस तरह से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा के गुण्डों ने अदालत के कमरे में घुसकर पत्रकारों, शिक्षकों और छात्रों के साथ मारपीट, गाली-गलौच, बदसलूकी की और जिस तरह से उन्हें सरकार का खुला समर्थन मिला, उसने यह सिद्ध कर दिया है कि देश में फासीवादी उभार चरम पर जा रहा है। अगर अभी से इनका एकजुट और पुरज़ोर विरोध नहीं किया गया तो कल देश का हरेक इंसाफ़पसन्द नागरिक इन लम्पट फासीवादी गुण्डा वाहिनियों का निशाना बनने वाला है। जब संघी गुण्डों को सड़कों पर इस कदर उत्पात मचाने की पूरी छूट दी जाती है, जब भाजपा का एक विधायक सड़कों पर एक आम गुण्डे की तरह छात्रों पर अपने झुण्ड के साथ हमला कर देता है, तो क्या संविधान, कानून-व्यवस्था की बात करना मज़ाक नहीं लगता? कल को किसी भी नाइंसाफ़ी का विरोध करने वाले व्यक्ति पर ''देशद्रोही'' का ठप्पा लगाकर उसे निशाना बनाया जा सकता है। हिटलर के जर्मनी और मुसोलिनी के इटली में ऐसा ही हुआ था जब क़ानून का शासन ख़त्म हो गया था और इसी प्रकार के देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति के ठेकेदार सड़कों पर अपनी गुण्डागर्दी चला रहे थे। ऐसे समय में, ज़रूरी है कि भावनाओं में बहने के बजाय ठण्डे दिमाग़ से कुछ बातों पर सोचा जाये।

अब यह साफ़ हो चुका है कि जेएनयू में भारत-विरोधी नारे लगाने वाले लोग कुछ अराजकतावादी तत्व थे जिनमें से अधिकांश जेएनयू के छात्र भी नहीं थे। वास्तविक आरोपियों को तो पुलिस अभी तक गिरफ़्तार भी नहीं कर पायी है लेकिन एक बेगुनाह छात्र कन्हैया कुमार को गिरफ़्तार कर लिया है। इसके अलावा, कुछ अन्य छात्रों पर भी फ़र्ज़ी मुकदमे डाल दिये गये हैं। क्या आप जानते हैं कि इन्हें क्यों निशाना बनाया गया है? ये छात्र वे ही हैं जो पिछले दिनों मज़दूरों के शोषण, महँगाई और बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते रहे हैं। ये वे ही छात्र हैं जिन्होंने मोदी सरकार की छात्र-विरोधी, मज़दूर-विरोधी और ग़रीब-विरोधी नीतियों का विरोध किया था! ऐसे में, मोदी सरकार कुछ अराजकतावादी तत्वों की हरक़त का बहाना बनाकर इन बेगुनाह छात्रों और पूरे जेएनयू को निशाना बना रही है। ज़रा सोचिये कि क्या हो रहा है! मायापुरी में एक मज़दूर की काम के दौरान मौत के बाद जब मज़दूरों ने इंसाफ़ और मुआवज़े की माँग की तो उनपर भी पुलिस ने लाठियाँ बरसायीं और उनके नेताओं पर भी देश-विरोधी होने का आरोप लगा दिया। ऐसा ही पुणे में एफटीआईआई के छात्रों के साथ भी किया गया था, और ऐसा ही दिल्ली के हरेक मेहनतकश और मज़दूर के साथ किया जाता है जब वह अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाता है।

दूसरी बात जिस पर संजीदगी के साथ सोचने की ज़रूरत है, वह यह है कि देशद्रोह या राष्ट्रद्रोह की परिभाषा देश के संविधान में दी गयी है और सरकार से लेकर सभी पार्टियाँ उस पर अमल करने को बाध्य हैं। इस परिभाषा के मुताबिक कोई भी व्यक्ति सरकार की नीति की आलोचना कर सकता है, उसका शान्तिपूर्ण विरोध कर सकता है, किसी कौम के हक़ की बात कर सकता है, लेकिन अगर वह सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह या हिंसा करने में लिप्त या हिंसा के लिए भड़काने में लिप्त होता है, तब उस पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया जा सकता है। देश का उच्चतम न्यायालय भी कई बार अपने फ़ैसलों में यह बात साफ़ कर चुका है। ऐसे में, धार्मिक कट्टरपंथियों और फासीवादियों को ये हक़ किसने दिया कि वे किसी को भी देशद्रोही या राष्ट्रद्रोही करार दे दें? और ख़ासकर तब जब कि देशभक्ति का सर्टिफिकेट बाँटने वाले ये लोग वही हैं जो कि आज़ादी के आन्दोलन के ग़द्दार थे और जिन्होंने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ कभी एक ढेला तक नहीं चलाया। उल्टे, इनके नेताओं ने अंग्रेज़ों के लिए मुखबिरी करने, माफ़ीनामे लिखने और सलामी देने का काम किया था? क्या आरएसएस का कोई भी व्यक्ति बता सकता है कि 1925 में उसकी स्थापना से लेकर 1947 में आज़ादी तक आरएसएस क्या कर रही थी? जिस समय पूरा देश भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की फाँसी को लेकर सड़कों पर था, ठीक उसी समय, मार्च 1931 के तीसरे सप्ताह में, संघ के संस्थापकों में से एक मुंजे, इटली के तानाशाह मुसोलिनी से फासिस्ट संगठन खड़ा करने की तरकीबें सीखने इटली पहुँचे हुए थे।

मेहनतकश साथियो! खुद सोचिये, ज़रा ''राष्ट्रभक्त'' और ''राष्ट्रद्रोही'' के प्रमाणपत्र बाँटने वालों द्वारा फैलाये जा रहे पागलपनसे ऊपर उठ कर सोचिये।

अगर आज बेगुनाह पत्रकार, नागरिक, मज़दूर, छात्र-छात्राएँ, शिक्षक अदालत के कमरे से लेकर बस्तियों तक इन कट्टरपंथियों का निशाना बन रहे हैं, तो कल अपने हक़ की आवाज़ उठाने पर क्या ये आपको निशाना नहीं बनायेंगे?

तीसरी बात जिसे हम सबको सोचना और समझना होगा, वह यह है कि देश कोई कागज़ पर बना नक्शा नहीं होता। देश उसमें रहने वाले आम मेहनतकश अवाम से बनता है। जो मोदी सरकार और संघ परिवार आज महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, शोषण और उत्पीड़न देश के करोड़ों-करोड़ मेहनतकशों, आम लोगों, छात्रों, युवाओं, दलितों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों और बुजुर्गों पर थोप रहा है, क्या वह देशभक्त है? और जो इस शोषण, उत्पीड़न के ख़िलाप़फ आवाज़ उठाये वह देशद्रोही है? हालत तो आज ऐसी ही बना दी गयी है! जो भी सरकार के क़दमों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाये वह देशद्रोही और जो भी सरकार की हर बात में सिर हिलाये वह देशभक्त। यही कारण है कि सरकार में बैठी पार्टी भाजपा ने तरह-तरह के गुण्डावाहिनियों को सड़क पर खुला छोड़ दिया है कि वह ऐसे सभी ''देशद्रोहियों'' को सबक सिखाये जो कि मोदी और संघ परिवार की हाँ में हाँ न मिलायें! और इसके बाद आपकी हर बात को 'भारत माता की जय', 'वन्दे मातरम' आदि के शोर में और लातों-घूँसों की बारिश में दबा दिया जाता है। क्या कोई इस बात को भूल सकता है कि उड़ीसा में भारत माता की जय के नारे लगाकर नन के साथ बलात्कार किया गया और यही नारे लगाते हुए कोर्ट के अन्दर महिला शिक्षकों और महिला पत्रकारों तक की पिटाई की गयी और उन्हें गन्दी गालियाँ दी गयीं। ऐसा करने वाले वे लोग हैं जो अपने संगठन के ऐसे एक व्यक्ति का नाम नहीं बता सकता है जो कि देश की आज़ादी के लिए लड़ा और शहीद हुआ हो! क्या आप ऐसे लोगों को अपनी देशभक्ति का प्रमाण देंगे? क्या आप ऐसे लोगों को ''राष्ट्रभक्ति'' का ठेकेदार बनने देंगे? क्या गुण्डों की इस भीड़ के दम पर अब देश चलाया जायेगा?

सोचने के लिए चौथी ज़रूरी बात यह है कि देशभक्ति के इस गुबार में आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी के ज़रूरी मुद्दों को ढँक देने की कोशिश की जा रही है। दाल, सब्ज़ी, दवाएँ, शिक्षा, तेल, गैस, किराया-भाड़ा, हर चीज़ की कीमतें आसमान छू रही हैं और ग़रीबों तथा निम्न मध्यवर्ग के लोगों का जीना मुहाल हो गया है। 'विकास' के लम्बे -चौड़े दावों में से कोई भी पूरा होना तो दूर की बात है, पिछले डेढ़ साल में खाने-पीने, दवा-इलाज और शिक्षा जैसी बुनियादी चीज़ों में बेतहाशा महँगाई, मनरेगा और विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं में भारी कटौती से आम लोग बुरी तरह तंग हैं। देश भर में कारख़ानों-खदानों-बन्दरगाहों और निर्माण स्थलों पर काम करने वाले करोड़ों मज़दूर अपने अनुभव से जान रहे हैं कि मोदी सरकार आने के बाद से मज़दूरों के काम करने और जीने की परिस्थितियाँ किस कदर कठिन हो गयी हैं। मज़दूरों के रहे-सहे अधिकारों पर डाका डालने के लिए मोदी सरकार संसद में कई क़ानून पास करवाने की तैयारी कर रही है। दूसरी ओर, अम्बानी, अदानी, बिड़ला, टाटा जैसे अपने आकाओं को मोदी सरकार एक के बाद एक तोहफ़े दे रही है! तमाम करों से छूट, लगभग मुफ़्त बिजली, पानी, ज़मीन, ब्याजरहित कर्ज़ और मज़दूरों को मनमाफिक ढंग से लूटने की छूट दी जा रही है। देश की प्राकृतिक सम्पदा और जनता के पैसे से खड़े किये सार्वजनिक उद्योगों को औने-पौने दामों पर उन्हें सौंपा जा रहा है। 'स्वदेशी', 'देशभक्ति', 'राष्ट्रवाद' का ढोल बजाते हुए सत्ता में आये मोदी ने अपनी सरकार बनने के साथ ही बीमा, रक्षा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों समेत तमाम क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को इजाज़त दे दी है। 'मेक इन इण्डिया' के सारे शोर-शराबे का अर्थ यही है कि 'आओ दुनिया भर के मालिको, पूँजीपतियो और व्यापारियो! हमारे देश के सस्ते श्रम और प्राकृतिक संसाधनों को बेरोक-टोक जमकर लूटो!'

मोदी सरकार के कारनामों से मोहभंग के कारण देश भर में मेहनतकश

(पेज 9 पर जारी)

अन्धाधुन्ध झूठे प्रचार के ज़रिये प्रगतिशील, जनवादी और जनपक्षधर ताक़तों को देशद्रोही करार देकर अवाम का मुँह बन्द करने की साज़िश को समझो!

(पेज 8 से आगे)

लोग और छात्र-नौजवान सड़कों पर उतरकर अपना विरोध दर्ज करा रहे हैं। संघ परिवार द्वारा फैलाये जा रहे नफ़रत के ज़हर के ख़िलाफ़ भी बुद्धिजीवियों-लेखकों-कलाकारों से लेकर आम नागरिक भी लगातार आवाज़ उठा रहे हैं। इस विरोध में भी छात्र-नौजवान अगली कतारों में हैं। नरेन्द्र मोदी का पाखण्डी मुखौटा तार-तार हो चुका है। देश ही नहीं, विदेशों में भी उसकी थू-थू हो रही है और देश में संघ परिवार द्वारा फैलाये जा रहे घृणा के वातावरण की कड़ी आलोचना हो रही है। आज देश में हर वह इंसान जो तर्क का, विज्ञान का, जनवादी अधिकारों की बात कर रहा है, जो मज़दूरों के हक़ों की बात कर रहा है, जो शिक्षा और रोज़गार के हक़ की बात कर रहा है, वे सभी मोदी सरकार के फासीवादी कदमों का विरोध कर रहे हैं। एफटीआईआई के छात्र अगर एक शैक्षणिक संस्थान में आधिकारिक नियुक्ति में पारदर्शिता की माँग करते हैं, तो वे देशद्रोही हैं; हैदराबाद विश्वविद्यालय के छात्र अगर ब्राह्मणवाद और उत्पीड़न का विरोध करते हैं, तो वे देशद्रोही हैं; जेएनयू के जो भी छात्र जनवाद और प्रगतिशीलता की हिमायत करते हैं, वे देशद्रोही हैं; मारुति के मज़दूर अगर यूनियन बनाने के हक़ की माँग उठाते हैं तो वे भी देशद्रोही हैं! सब पर फैसला सुनाने वाले ये फासीवादी वे लोग हैं जिनकी पार्टी में ठेकेदारों, गुण्डों, जॉबरों, दलालों और पूँजीपतियों की भरमार है! ये स्वदेशी का ढोंगी गाना गाते हुए कोक और पेप्सी की ग़ुलामी करने वाले ढोंगी हैं। यही संघ परिवार का इतिहास और उसकी असलियत है।

इसी विरोध और जन आन्दोलनों से बौखलाई सरकार और संघ परिवार ने अब ये नया पैंतरा खेला है। इसके ज़रिये वे तमाम प्रगतिशील, जनवादी और जनपक्षधर ताक़तों को अन्धाधुन्ध झूठे प्रचार के ज़रिये देशद्रोही करार देकर उनका मुँह बन्द करना चाहते हैं। इतिहास गवाह है कि जर्मनी में हिटलर ने भी ठीक इसी तरह झूठे आरोप लगाकर पहले हर उस आवाज़ को चुप कराया जो उसका विरोध कर सकती थी और फिर जनता को पीसकर रख देने के लिए पूँजीपतियों को खुली छूट दे दी। देशभक्ति और विश्वविजय के नारों का बुखार जब तक जनता के सिर से उतरा, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। उनके सारे अधिकार छीने जा चुके थे।

अगर हम आज ही हिटलर के इन अनुयायियों की असलियत नहीं पहचानते और इनके ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाते तो कल बहुत देर हो जायेगी। हर ज़ुबान पर ताला लग जायेगा। देश में महँगाई, बेरोज़गारी और ग़रीबी का जो आलम है, ज़ाहिर है हममें से हर उस इंसान को कल अपने हक़ की आवाज़ उठानी पड़ेगी जो मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा नहीं हुआ है। ऐसे में हर किसी को ये सरकार और उसके संरक्षण में काम करने वाली गुण्डावाहिनियाँ ''देशद्रोही'' घोषित कर देंगी! हमें इनकी असलियत को जनता के सामने नंगा करना होगा। शहरों की कॉलोनियों, बस्तियों से लेकर कैम्पसों और शैक्षणिक संस्थानों में हमें इन्हें बेनक़ाब करना होगा। गाँव-गाँव, कस्बे-कस्बे में इनकी पोल खोलनी होगी।

यह भी याद रखना होगा कि इन फ़ासिस्टों के खिलाफ़ लड़ाई कुछ विरोध प्रदर्शनों और जुलूसों से नहीं जीती जा सकती। इनके विरुद्ध लम्बी ज़मीनी लड़ाई की तैयारी करनी होगी। भारत में संसदीय वामपंथियों ने हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ विरोधी संघर्ष को मात्र चुनावी हार-जीत का और कुछ रस्मी प्रतीकात्मक विरोध का मुद्दा बना दिया है। अब ये तृणमूल स्तर पर मेहनतकशों को साथ लेकर फासिस्ट कैडरों की सरगर्मियों की प्रभावी काट कर सकने की क्षमता खो चुके हैं। आज जब समूचे वाम पर हमला हो रहा है, तो इन्हें सड़कों पर उतरना पड़ रहा है। इनके साथ जुड़े छात्र-युवा अपनी सहज फासीवाद-विरोधी भावनाओं और जोश के चलते जुझारू ढंग से सड़कों पर मोर्चा ले रहे हैं लेकिन इन पार्टियों के नेतृत्व के पास न तो फासिस्टों के लम्बी जुझारू लड़ाई चलाने की कोई रणनीति है और न ही हौसला। फासिस्टों के विरुद्ध धुआँधार प्रचार और इस संघर्ष में मेहनतकश जनता के नौजवानों की भरती के साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि फासिस्ट शक्तियों ने आज राज्यसत्ता पर कब्ज़ा करने के साथ ही, समाज में विभिन्न रूपों में अपनी पैठ बना रखी है। इनसे मुकाबले के लिए हमें वैकल्पिक शिक्षा, प्रचार और संस्कृति का अपना तंत्र विकसित करना होगा, मज़दूर वर्ग को राजनीतिक स्तर पर शिक्षित-संगठित करना होगा और मध्य वर्ग के रैडिकल तत्वों को उनके साथ खड़ा करना होगा। संगठित क्रान्तिकारी कैडर शक्ति की मदद से हमें भी अपनी खन्दकें खोदकर और बंकर बनाकर पूँजी और श्रम की ताक़तों के बीच मोर्चा बाँधकर चलने वाले लम्बे वर्गयुद्ध में पूँजी के भाड़े के गुण्डे फासिस्टों से मोर्चा लेना होगा। फरवरी 2016 की घटनाएँ एक ख़तरनाक और गम्भीर चेतावनी हैं। अगर हम इसका जवाब देने के लिए उठ नहीं खड़े हुए तो हमें इतना भारी नुक्सान उठाने के लिए तैयार रहना होगा जिसकी भरपाई कई पीढ़ियों में नहीं हो पायेगी।

●

'दिल्ली मास्टर प्लान 2021' की भेंट चढ़ी ग़रीबों-मेहनतकशों की एक और बस्ती – शकूर बस्ती

(पेज 5 से आगे)

क्षेत्रीय विधयक तक की शह रहती है। ऊपर से तुर्रा यह कि खुद को मज़दूरों का हितैषी बतानेवाली और रेलवे में बड़ी यूनियनें चलानेवाली एक सेण्ट्रल ट्रेड यूनियन भी सीमेण्ट मज़दूरों के बीच में सक्रिय है। और इनकी नाक के नीचे तमाम स्थानीय गुण्डे और दलाल अपनी मनमर्जी चला रहे थे। दरअसल मज़दूरों की अपनी क्रान्तिकारी यूनियन ही जुझारू तरीके से मज़दूरों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की दिक्कतों समस्याओं के ख़िलाफ़ लड़ सकती है। सेण्ट्रल ट्रेड यूनियनें बस वेतन भत्ते की लड़ाई तक ही सीमित रहती हैं।

दरअसल ये दल्ले और गुण्डे लोगों के भय और अज्ञानता के दम पर ही पनपते हैं और उसी से जीवित रहते हैं। जब उन्हें लगता है कि बस्तीवासी एकजुट हो रहे हैं और अपने अधिकारों को जानने लगे हैं तो उन्हें बाँटने का काम करने लगते हैं। बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं ने लोगों से कहा कि पुनर्वास की जिम्मेदारी दिल्ली सरकार की है तो झुग्गीवासियों को केजरीवाल सरकार के पास जाकर अपनी माँगें रखनी चाहिए। वैसे भी केजरीवाल ने चुनाव के समय पक्के मकान देने का वायदा भी किया था। बिगुल के कार्यकर्ताओं की पहल पर 'शकूरबस्ती झुग्गी पुनर्वास समिति' का भी गठन किया गया। यह तय हुआ कि समिति के नेतृत्व में 3 जनवरी 2016 को केजरीवाल के आवास पर प्रदर्शन किया जाएगा। बस इतना तय होने भर की देर थी कि आम आदमी पार्टी के तमाम दल्लों ने लोगों के बीच झूठा प्रचार करने और बिगुल कार्यकर्ताओं से टकराना शुरू कर दिया। इन सारी चीज़ों के बावजूद प्रचार अभियान चला और लोग प्रदर्शन के लिए गये। हालाँकि लोगों को भरमाने और बहकाने में दल्ले सफल रहे और बहुत कम संख्या में लोग प्रदर्शन में जा पाये। केजरीवाल नहीं मिल सके क्योंकि अपने व्यापारी मित्र के साथ नये साल की पार्टी में व्यस्त थे। लोगों ने अपना ज्ञापन केजरीवाल के अधिकृत पदाधिकारी को सौंपा। प्रदर्शन स्थल पर तमाम मीडिया चैनलों ने कार्यक्रम का लाइव प्रसारण भी किया।

दल्लों और गुण्डों ने बिगुल की महिला कार्यकताओं को भी धमकाने-डराने का भरसक प्रयास किया और लोगों को धर्म और जाति के नाम पर बाँटने की कोशिश की। सीमेंट वाले और ग़ैर सीमेण्ट वाले का मुद्दा उछाला गया। लेकिन, इस 'फूट डालो और राज करो' की नीति का लगातार भण्डाफोड़ किया गया। अन्ततः जनता की एकजुटता की ताकत के आगे दल्लों और गुण्डों की हार हुई। गुण्डों पर मुकदमे दर्ज हुए और उनके आतंक पर लोगों ने लगाम लगायी।

26 जनवरी को मज़दूर सांस्कृतिक संध्या का आयोजनः 'किसका है ये संविधान और किसकी सेवा करता है'

गत 26 जनवरी 2016 को 'शकूरबस्ती झुग्गी पुनर्वास समिति' और 'बिगुल मज़दूर दस्ता' द्वारा एक सांस्कृतिक संध्या का आयोजन किया गया। ठिठुराती हुई सर्दी के बावजूद मज़दूर पूरे उत्साह से डटे रहे। कार्यक्रम में क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति के साथ-साथ भारतीय संविधान की असलियत और श्रम क़ानूनों पर भी बात की गयी। 'मज़दूर बिगुल' अख़बार की ओर से सनी ने कहा कि भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया ग़ैर जनतांत्रिक रही है। देश की तत्कालीन आबादी की मात्र 11 प्रतिशत ने वह संविधान सभा चुनी जिसने संविधान तैयार किया और वह भी अंग्रेजों के ही क़ानून की नकल है। आज़ादी के 68 साल बीत जाने के बाद और भारतीय गणतंत्र के 66 वर्ष बाद भी मज़दूर आबादी किस बात का जश्न मनाये? आज अमीर और भी ज़्यादा अमीर होते गये हैं तो ग़रीब और भी ग़रीब। सारे नेता और मंत्री पूँजीपतियों के चाकर हैं। मज़दूरों को अपनी ज़िन्दगी के हालात बदलने के लिए इन चुनावबाज पार्टियों के भरोसे रहना छोड़ना होगा। देश स्तर पर अपनी इन्क़लाबी पार्टी बनानी होगी जिसका काम इन्क़लाब के ज़रिये इस मुनाफ़ाखोर व्यवस्था को उखाड़ फेंकना हो, जिसका काम मज़दूर राज कायम करना हो। इसके लिए हमें एकजुट होकर सही और ग़लत की पहचान करनी होगी, अपने दोस्तों और दुश्मनों को छाँटना होगा। इसके लिए हमें अपना इतिहास भी जानना होगा कि हमारे पुरखों ने इसी धरती पर अपना राज कैसे कायम किया? उनसे सबक लेकर हमें अपने नये रास्ते खुद तलाशने होंगे। गड्ढों से बचकर निकलना होगा। हम अपनी छोटी-छोटी और जनवादी अधिकारों की लड़ाइयों को व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई की ओर ले जा सकते हैं। उन्होंने मज़दूरों को नियमित तौर पर अख़बार पढ़ने की सलाह देते हुए कहा कि मालिक इसलिए भी ताकतवर है क्योंकि उसके पास दुनिया जहान की ख़बरें होती हैं। लेकिन, हम अख़बार नहीं पढ़ते हैं। इस तरह देश-दुनिया में जो कुछ भी हो रहा होता है उससे कटते चले जाते हैं। इसलिए ज़रूरी है कि अख़बार पढ़ा जाय। अपना अख़बार हमारे हक़-अधिकारों के बारे में भी हमें बताता है।

शकूरबस्ती के लोगों के सामने चुनावी पार्टियों और उनके दल्लों की पोल काफ़ी हद तक खुल चुकी है। लोग सरकार की आर्थिक नीतियों और 'आम आदमी' के 'अच्छे दिनों' की असलियत को भी समझने लगे हैं।

– बेबी कुमारी

मज़दूरों की कत्लग़ाह बने चाय बागान

अकसर चाय की चुसकियाँ लेते समय हम यह कल्पना भी नहीं कर पाते कि इस चाय का उत्पादन करने वाले चाय बागान मज़दूर किन विषम परिस्थितियों में काम कर रहे हैं और उनके जीवन के हालात कैसे हैं। एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2000 से 2014 के बीच दार्जीलिंग के दुआर और तराई के मैदानी क्षेत्रों के करीब 17 चाय बागानों में 1400 मज़दूरों की मौत हो चुकी है। इन मौतों का कारण कुपोषण, स्वच्छ पानी एवं स्वास्थ्य सुविधओं की कमी बताया गया है। हालाँकि पश्चिम बंगाल के श्रममंत्री मलय घटक ने बेशर्मी से इन कारणों को नकारकर पल्ला झाड़ लिया। पूँजी के इन टुकड़खोरों से और किस बात की उम्मीद की जा सकती है। गौरतलब है कि एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार इन क्षेत्रों के अधिकतर मज़दूरों का बॉडी मास इंडेक्स (बी.एम.आई.) 18.5 और कई का तो 14 से भी नीचे पाया गया है। यह जान लेना ज़रूरी है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों के अनुसार 18.5 बी.एम.आई. अकाल ग्रस्त क्षेत्रों के लोगों में पाया जाता है।

चाय बागान मज़दूरों की ऐसी हालत उनके काम करने के हालात से जुड़ी हुई है। इन चाय बागान मज़दूरों का प्रतिदिन का मेहनताना सिर्फ 90 रुपये है। वह भी उन्हें बहुत देरी से दिया जाता है। इन्हें पीने का साफ़ पानी, कार्यस्थल पर शौचालय की सुविधा और स्वास्थ्य सुविधाएँ तक उपलब्ध नहीं हैं। दूषित पानी पीने के चलते डायरिया यहाँ एक सामान्य रोग बन चुका है। यही नहीं, लगातार कड़ी धूप में काम करने के कारण मज़दूरों के शरीर में पानी की बहुत कमी हो जाती है, जिससे निपटने के लिए बागान मालिकों ने उन्हें चाय में नमक मिलाकर पीने की आदत डलवा दी है। यह तरीका अंग्रेज़ी हुकूमत के दौर से ही बागानों में अपनाया जाता रहा है। शरीर में नमक की अधिकता ने इन मज़दूरों के बीच दिल की बीमारियों को भी बढ़ावा दिया है जिससे उनका अनुमानित जीवनकाल काफी घट गया है। इन क्षेत्रों में करीब 107 चाय बागान तो ऐसे हैं जिनमें कोई अस्पताल ही नहीं है और जहाँ हैं वहाँ भी ज़्यादातर अरसे से बंद पड़े हैं। अस्पतालों की कमी और आर्थिक तंगी दोनों के ही कारण बीमारी होने पर अधिकतर मज़दूरों को बिना दवा-इलाज के तिल-तिलकर मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। बड़ी संख्या में गर्भवती महिलाओं की मृत्यु अस्पतालों की कमी के कारण हो जाती है। यहाँ 95 प्रतिशत महिलाएँ खून की कमी की शिकार हैं।

भ्यंकर ग़रीबी में जीने वाला एक चाय बागान मज़दूर परिवार

इन चाय बागानों में कितने बड़े पैमाने पर मानव तस्करी और यौन गुलामी जारी है इसका अंदाज़ा यूनीसेफ की वर्ष 2010 की रिपोर्ट से ही लगाया जा सकता है जिसके अनुसार दुआर के 12 चाय बागानों से करीब 3500 नाबालिग लड़कियों की तस्करी की गयी है और अगर इसमें तराई और दार्जीलिंग की पहाड़ियों को जोड़ दिया जाय तो यह आँकड़ा और अधिक बढ़ जायेगा।

कहने को तो बागान मज़दूरों के लिए चाय बागान श्रम कानून 1951 के तहत न्यूनतम मज़दूरी, पी.एफ,, पेंशन, बोनस, राशन, कार्यस्थल पर छाते एवं एप्रेन, आवास, साफ पीने के पानी, स्वास्थ्य एवं बच्चों के लिए शिक्षा आदि सुविधाओं के प्रावधान शामिल हैं। मगर सब जानते हैं कि इस तरह के तमाम कानून केवल काग़ज़ों की शोभा बढ़ाने एवं आँखों में धूल झोंकने के ही काम आते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने वर्ष 2010 के अपने एक निर्णय में भारत सरकार को टी-एक्ट 1953 के तहत कर्तव्य निर्वाह करने का आदेश दिया था। यह अधिनियम केन्द्र सरकार को शक्ति देता है कि वह चाय बागानों का नियंत्रण एवं प्रबन्धन अपने हाथों में लेकर बागान मज़दूरों के हितों को सुनिश्चित करे। मगर इस आदेश का पालन करना तो दूर जो थोड़े बहुत चाय बागान सरकारी नियंत्रण में थे उन्हें भी निजी हाथों में सौंप दिया गया। इसमें हैरान होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि पूँजी के हितों की रक्षा करने के लिए बनी तमाम राज्य संस्थाएँ अदालतों के फैसलों की धज्जियाँ उड़ाने में हिचकिचाती नहीं हैं और इस तरह के अदालती फैसले न्यायपालिका समय-समय पर इसलिए भी देती रहती है ताकि जनता की उस पर से आस्था पूरी तरह से ख़त्म न हो जाय।

बागान मज़दूरों के श्रम को निचोड़कर मालिक जो बेहिसाब मुनाफ़ा कमाते हैं उसका अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि चाय उत्पादन से होने वाला सालाना कारोबार 10,000 करोड़ रुपये का है। एक बड़े चाय बागान मकईबाड़ी ने तो हाल में चाय की नीलामी में 4 लाख 30 हज़ार रुपये किलो के भाव से चाय बेची! चीन के बाद भारत दुनिया का दूसरा बड़ा चाय उत्पादक है। भारत में वर्ष 2010 में चाय का उत्पादन 1.44 लाख टन था जो वर्ष 2014 में बढ़कर 1.89 लाख टन हो गया। ज़ाहिर है कि चाय उत्पादन की इस बढ़ोतरी में असंख्य बागान मज़दूरों का खून मिला हुआ है।

ब्रिटिश हुकूमत ने चाय पर चीन के एकाधिकार को चुनौती देने के मक़सद से असम क्षेत्र में चाय का उत्पादन शुरू करवाया था। चाय उत्पादन में उतरने वाली कम्पनियों को ब्रिटिश हुकूमत द्वारा बेशुमार रियायतें दी गयीं। उन्हें न केवल बागानों के लिए बेहद सस्ती दरों पर ज़मीन मुहैया करायी गयी बल्कि उनके लिए श्रम कानूनों को भी बेहद ढीला किया गया। असम में दूसरे राज्यों से होने वाले श्रमिकों के आयात को सुगम बना दिया गया ताकि चाय बागानों में उत्पादन के लिए श्रमशक्ति बे-रोकटोक मुहैया हो सके। उस समय के चाय बागानों में मज़दूरों की हालत का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि असम में वर्ष 1863 में अन्य राज्यों से आये मज़दूरों की संख्या 84,915 थी जो 1866 में घटकर 49,750 रह गयी। घटिया खाना खाने और बीमार पड़ने के कारण बड़ी संख्या में मज़दूरों की मौत हो गयी। बागानों में मज़दूरों को मारा-पीटा जाता था और यदि वे इस हालत से बाहर निकलने के लिए भागने की कोशिश करते तो पकड़े जाने पर उन्हें भारी जुर्माना भरना पड़ता। महिलाएँ अकसर यौन उत्पीडन की घटनाओं का शिकार होतीं। मज़दूरों को यूनियन बनाने तक का अधिकार हासिल नहीं था।

बागान मज़दूरों ने इन हालात के खिलाफ़ एकजुट होकर संघर्ष किया और जीने और काम करने की बेहतर स्थितियों की माँगें उठाई और कुछ हद तक उन्हें हासिल भी किया। लेकिन बाद में ट्रेड यूनियनों की कमज़ोरी और ग़द्दारी के कारण ये संघर्ष बिखर गये जिसका नतीजा यह है कि आज फिर चाय बागान मज़दूरों के हालात कमोबेश वैसे ही हो गये हैं जैसे ब्रिटिश हुकूमत के दौरान थे।

– श्वेता

कुछ अहम सवाल जिनका जवाब जाति-उन्मूलन के लिए ज़रूरी है!

(पेज 7 से आगे)

ही में, हरियाणा, पंजाब और राजस्थान में हुए बर्बर दलित-विरोधी उत्पीड़न व हत्याओं की घटनाओं में यह साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। यही कारण है कि एक मुनाफ़ाखोर व्यवस्था जो कि मेहनतकश आबादी की मेहनत और साथ ही कुदरत की लूट पर आधारित है, उसके दायरे के भीतर जाति उन्मूलन की लड़ाई और आदिवासियों के संघर्ष किसी मुकम्मिल मुकाम तक नहीं पहुँच सकते हैं। साथ ही यह भी सच है कि आज ही से और तत्काल जाति-उन्मूलन के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक संघर्ष की शुरुआत किये बिना, एक शक्तिशाली जाति-विरोधी सांस्कृतिक आन्दोलन की नींव रखे बिना, और अन्धविश्वास, कूपमण्डूकता, धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध आज ही समझौताविहीन संघर्ष किये बिना, आम मेहनतकश वर्गों की ऐसी कोई क्रान्तिकारी एकता बन ही नहीं सकती है जिसके ज़रिये विचारधारा, राजनीति और समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की लड़ाई को आगे बढ़ाया जा सके। यह भी सच है कि पूँजीवादी चुनावी राजनीति में जातिवाद और ब्राह्मणवाद शासक वर्गों को अपने बीच लूट के बँटवारे हेतु गोलबन्दी करने और उससे भी ज़्यादा पहले से ही जातिगत पूर्वाग्रहों की शिकार मेहनतकश आम जनता को जातियों के आधार पर और भी ज़्यादा विभाजित कर देने और तोड़ देने का एक ज़बर्दस्त उपकरण देती है। इसलिए भी पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर जाति का उन्मूलन सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी समझना ज़रूरी है कि जाति-विरोधी जुझारू और मेहनतकश वर्गों पर आधारित आन्दोलन आज से ही खड़ा किये बिना पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंस के लिए ज़रूरी वर्ग एकता बना पाना ही मुश्किल है। आज जहाँ धार्मिक रूढ़ियों, मूल्यों-मान्यताओं, अन्धविश्वासों और ब्राह्मणवादी वर्चस्ववाद के विरुद्ध कठोर संघर्ष की दरकार है वहीं इस संघर्ष को समूची शोषक-उत्पीड़क राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का ध्वंस करने के संघर्ष के एक अंग के तौर पर देखने और साथ ही उसे इसका अंग बनाने की ज़रूरत है।

जो लोग समझते हैं कि क्रमिक आर्थिक व राजनीतिक सुधारों के रास्ते से दलित उत्पीड़न व जाति की समस्या का समाधान हो सकता है, उन्हें एक बार अतीत का पुनरावलोकन भी करना चाहिए और सोचना चाहिए कि संवैधानिक सुधारों और ऐसे सामाजिक आन्दोलनों से अब तक क्या हासिल हुआ है, जो कि जाति उन्मूलन की लड़ाई को व्यवस्था और राज्यसत्ता के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष से अलग करके देखते हैं? साथ ही, जो लोग यह समझते हैं कि जाति के उन्मूलन (सामाजिक उत्पीड़न के क्षेत्र) के लिए कोई एक विचारधारा होनी चाहिए और आर्थिक और व्यवस्थागत परिवर्तन के लिए कोई दूसरी क्रान्तिकारी विचारधारा होनी चाहिए, उन्हें भी यह समझने की ज़रूरत है कि हमारे समाज में जातिगत उत्पीड़न का एक वर्गगत पहलू है। जहाँ जातिगत उत्पीड़न वर्ग सम्बन्धों से पूर्णतः स्वायत्त रूप में दिखता है, उसके ख़ात्मे के लिए भी जाति उन्मूलन की लड़ाई को वर्ग संघर्ष का अंग बनाना होगा। अलग से महज़ अस्मिता की ज़मीन पर, धार्मिक सुधार या धर्मान्तरण की ज़मीन पर खड़े होकर, राजनीतिक सत्ता के क्रान्तिकारी संघर्ष से विलग जाति-विरोधी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की ज़मीन पर खड़े होकर जाति-उन्मूलन सम्भव ही नहीं है।

यही कारण है कि रोहित वेमुला के संघर्ष को भी आगे बढ़ाने के लिए हमें अस्मितावादी राजनीति का परित्याग करना होगा। क्या इस अस्मितावादी राजनीति का पहले ही हम भारी नुकसान नहीं उठा चुके हैं? क्या इस अस्मितावादी राजनीति ने पहले ही फासीवादी और ब्राह्मणवादी वर्चस्ववाद की राजनीति को काफ़ी ईंधन नहीं प्रदान किया है? हम आग्रहपूर्वक कहेंगे कि हमें रोहित के संघर्ष को सही दिशा में आगे बढ़ाने के लिए इन सवालों पर संजीदगी से सोचने की ज़रूरत है। जाति-उन्मूलन की समूची परियोजना को वर्ग संघर्ष और क्रान्तिकारी रूपान्तरण की परियोजना का अंग बनाने की आज पहले हमेशा से ज़्यादा दरकार है। इस काम को अंजाम देने में भारत का क्रान्तिकारी आन्दोलन मूलतः असफल रहा है और अस्मितावादी राजनीति के पनपने और पाँव पसारने के लिए मुख्य रूप से यह असफलता ज़िम्मेदार रही है। इस नाकामयाबी को दूर करने का इससे सही वक़्त और कोई नहीं हो सकता है और रोहित वेमुला को भी हमारी सच्ची क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि यही हो सकती है।

– बिगुल टीम

पूँजीवादी खेती, अकाल और किसानों की आत्महत्याएँ

मुनाफ़े की व्यवस्था में बर्बाद होना ही छोटे किसानों की नियति है

विराट

महाराष्ट्र में किसानों का आत्महत्या करना लगातार जारी है। पिछले कुछ सालों के मुक़ाबले इस साल आत्महत्याओं की दरों में बहुत तेज़ी आयी है। 2015 में जनवरी से जून तक छह महीनों में ही 1300 किसान आत्महत्या कर चुके हैं (यह सरकारी आँकड़ा है, कुछ विश्लेषकों के अनुसार यह संख्या 2000 से भी अधिक है)। महाराष्ट्र के 14,708 गाँवों को सूखाग्रस्त घोषित किया जा चुका है और बड़े पैमाने पर पीने के पानी की भी समस्या उठ खड़ी हुई है। अन्य राज्यों में भी स्थिति कोई बेहतर नहीं है और कर्नाटक के भी 27 ज़िलों को सूखाग्रस्त घोषित किया जा चुका है। खुद केन्द्र का इस समस्या पर क्या रवैया है यह केन्द्रीय मन्त्री राधा मोहन सिंह के बयान से ही पता चल जाता है, जो कहते हैं कि आत्महत्याओं की असल वजह प्रेम सम्बन्ध, नपुंसकता आदि है। इस वर्ष बरसात भी बेहद कम हुई है जो एक तरह से सूखे का तात्कालिक कारण है। कम बरसात को ही पूरी तरह से सूखे का ज़िम्मेदार बताकर सरकार अपने आपको बचाने में लगी है। अगर पूरी समस्या को समग्रता में देखा जाये तो इसके अनेकों पक्ष निकलकर आते हैं जिन पर विचार करना ज़रूरी है।

देश में सूखे और किसान आत्महत्या की समस्या कोई नयी नहीं है। अगर केवल पिछले 20 सालों की ही बात की जाये तो हर वर्ष 12,000 से लेकर 20,000 किसान आत्महत्या कर रहे हैं। महाराष्ट्र में यह समस्या सबसे अधिक है और कुल आत्महत्याओं में से लगभग 45 प्रतिशत आत्महत्याएँ अकेले महाराष्ट्र में ही होती हैं। महाराष्ट्र में भी सबसे अधिक ये विदर्भ और मराठवाड़ा में होती हैं। इस साल भी जून तक विदर्भ में 671 और मराठवाड़ा में 438 किसान आत्महत्या कर चुके हैं। 2012, 2013 और 2014 में क्रमश: 3786, 3146 और 4004 किसानों ने महाराष्ट्र में आत्महत्याएँ की हैं। जून के बाद के आँकड़े हमारे पास मौजूद नहीं हैं लेकिन यह ज़रूर कहा जा सकता है कि स्थिति और भी ख़राब हुई है। बीड़, लातुर, ओस्मानाबाद, जलगाँव, नान्देड़, सतारा, अहमदनगर, यवतमाल, वर्धा आदि सभी ज़िलों से लगातार आत्महत्याओं की ख़बरें रोज़ आ रही हैं।

सूखे और उसके फलस्वरूप आत्महत्याओं के लिए ज़िम्मेदार जिस कारण को सबसे ज़्यादा उछाला जा रहा है वह है - बरसात की कमी। यानी कि प्राकृतिक कारणों को ही पूरी समस्या के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जा रहा है। नाना पाटेकर, जो आज कल ज़ोरो-शोरों से किसानों की मदद के लिए अभियान चला रहे हैं, भी कहते हैं कि इस समस्या के लिए सरकार को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि बरसात ही बेहद कम हुई है। लेकिन बात या समस्या इतना कह देने से ख़त्म नहीं हो जाती। जिन वर्षों में बरसात की दिक्कत नहीं रही है उनमें भी यह समस्या बड़े स्तर पर मौजूद रही है। असली समस्या बरसात के कम होने के कारण नहीं है बल्कि सरकार द्वारा इस समस्या पर ध्यान न दिये जाने के कारण है। एक सर्वे के अनुसार आत्महत्या करने वाले परिवारों में से एक-तिहाई का कहना है कि आत्महत्या के लिए मुख्य तौर पर ज़िम्मेदार कारक सरकार द्वारा कोई राहत का क़दम न उठाया जाना है। वहीं केवल दस फ़ीसदी परिवारों ने ही बरसात को ज़िम्मेदार बताया। सरकार चाहे किसी की भी रही हो लेकिन सूखे से लगातार जूझने वाले इलाक़ों में सिंचाई का एक व्यवस्थित व क्रियाशील बुनियादी ढाँचा खड़ा करने की किसी भी सरकार ने ज़िम्मेदारी नहीं ली है। यदि जल संचयन का प्रबन्धन ढंग से नहीं होगा तो वे इलाक़े जिनमें काफ़ी ज़्यादा बरसात होती है, भी जल की समस्या से जूझेंगे। चेरापूँजी इसका एक प्रातिनिधिक उदाहरण है। चेरापूँजी भारत में सबसे अधिक वर्षा वाले इलाक़ों में से एक है लेकिन फिर भी वह वर्ष के बड़े हिस्से में जल की समस्या से जूझता है। मुख्य बात यह है कि अगर आज हम सूखे जैसी आपदा से जूझते हैं तो इसके लिए प्राकृतिक कारणों का हवाला देना एक कुतर्क ही है। ये हवाले यदि 17वीं या 18वीं शताब्दी के लिए दिये जायें तो बात कुछ समझ में भी आती है। विज्ञान व तकनीक आज इतनी विकसित हो चुकी है कि सबसे कम बरसात वाले इलाक़ों में भी चाहें तो पर्याप्त जल का प्रबन्ध किया जा सकता है। मानसून की अनियमितता के कारण सूखा पड़ने की ख़बरों से हम बचपन से ही परिचित होते आए हैं और यह एक आम धारणा-सी बन गयी है कि सूखे का मुख्य कारण प्राकृतिक है। कम मानसून में भी भारत में इतनी बारिश होती है कि अगर उस जल का संचरण करके सही तरीक़े से इस्तेमाल किया जाये तो सूखे की समस्या से निपटा जा सकता है। नदियों के जल को यदि एक व्यवस्थित तरीक़े से इस्तेमाल किया जाये और इसके लिए ज़रूरी ढाँचा खड़ा किया जाये तो निश्चित तौर पर यह सम्भव है। इसके ज़रिये भूमिगत जल के लगातार गिर रहे स्तर को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। सवाल यह है कि यदि यह इतना ही आसान है तो फिर सरकार इस आसान काम को हाथ में क्यों नहीं लेती और क्यों आये दिन लोगों की गालियाँ खाती रहती है। बात यह है कि यह काम तो आसान है लेकिन सरकार के लिए यह काम असम्भव है।

यह सवाल कि आज की व्यवस्था के भीतर सूखे की समस्या का निपटारा क्यों नहीं हो सकता का क्या जवाब हो सकता है। इस बात का जवाब हमें मौजूदा व्यवस्था के चरित्र में ही खोजना पड़ेगा। मौजूदा व्यवस्था का चरित्र पूँजीवादी है और यह समाज के एक छोटे-से हिस्से के मुनाफ़े की सेवा में लगी है। इस बात का हमारे विषय से क्या सम्बन्ध है? किसी भी सामाजिक समस्या को व्यवस्था के चरित्र के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। किसी भी समस्या का हल तभी निकाला जा सकता है जब उसे उसकी समग्रता में समझा जाये। सूखे की समस्या को भी इसी सन्दर्भ में ही हम ठीक से समझ सकते हैं। आज जब सूखे की बात आती है तो आमतौर पर दृष्टिभ्रम की ही स्थिति पैदा हो जाती है। एक चुनावी दल दूसरे चुनावी दल को समस्या के लिए कोसता रहता है। जो पक्ष सरकार में होता है वह यह कहता रहता है कि वे समस्या को गम्भीरता से ले रहे हैं और सरकार द्वारा कुछ आश्वासन दिये जाते हैं। सरकार के द्वारा कुछ योजनाएँ बनायी जाती हैं जो कभी अमल में नहीं लायी जातीं या फिर अमल में लायी भी जाती हैं तो विशाल नौकरशाही के हाथों उनका बेड़ा गर्क कर दिया जाता है। फिर समस्या को नौकरशाही या सरकार की अकर्मण्यता और भ्रष्टाचार पर लाकर छोड़ दिया जाता है और अन्त में दिखावे के लिए थोड़ा बहुत मुआवज़ा देकर समस्या का निपटारा कर दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में समस्या के वास्तविक कारण छुप जाते हैं और व्यवस्था का चरित्र सामने नहीं आ पाता।

इस बार भी कमोबेश ऐसा ही हो रहा है और समस्या को सरकार कितनी गम्भीरता से ले रही है उसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक तरफ़ मराठवाड़ा और विदर्भ में लोगों के सामने पीने के पानी तक की समस्या आ खड़ी हुई है, वहीं दूसरी तरफ़ नाशिक के कुम्भ मेले में साधुओं को डुबकी लगाने में परेशानी न हो इसलिए सरकार ने बड़ी मात्रा में साफ़ पानी साधुओं की सेवा में शाही स्नान के लिए छोड़ दिया। यह अपने आप में ही बेहद शर्मनाक बात है कि जो राज्य सूखे की समस्या से जूझ रहा हो और गाँवों में प्रति व्यक्ति को केवल 5-6 लीटर पानी ही दिया जा रहा हो वहाँ पर साधुओं के स्नान के लिए ही 2 टी.एम.सी. पानी (इतने पानी से 70 लाख लोगों की 2 महीने तक घरेलू ज़रूरतों को पूरा किया जा सकता है) बर्बाद कर दिया गया। पिछली सरकार ने इस समस्या को कितनी गम्भीरता से लिया यह उसके शासन काल में हुए 35000 करोड़ के सिंचाई घोटाले से ही पता चल जाता है। तो हम देख सकते हैं कि किसी भी सरकार को ग़रीब जनता की कोई परवाह नहीं है। तो फिर उन्हें परवाह किसकी है? एक वाक्य में कहा जाये तो उन्हें केवल समाज के एक तबके, यानी कि पूँजीपति वर्ग की ही परवाह है। इसको कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है। सूखे के समय भी महाराष्ट्र सरकार पहले जनता की ज़रूरतों को पूरा करने और सूखाग्रस्त इलाक़ों को राहत पहुँचाने के बजाय निजी कम्पनियों के इस्तेमाल के लिए पानी छोड़ती रही है। साल 2012-13 में पानी का आवण्टन पर्याप्त मात्रा में होने के कारण लगभग 47 कम्पनियों को फ़ायदा पहुँचा। इन 47 में से भी 90 प्रतिशत पानी केवल 12 कम्पनियों को ही आवण्टित किया गया। इन 47 कम्पनियों में से 15 थर्मल पावर प्लाण्टों का फ़ायदा हुआ जिनमें से 13 निजी हैं। ये बिजली उत्पादक संयन्त्र बेहद ज़्यादा पानी का इस्तेमाल करते हैं। इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 1000 मेगावॉट बिजली पैदा करने वाले संयन्त्र में पानी की इतनी खपत होती है जिससे हर साल 7000 हेक्टेयर भूमि की सिंचाई की जा सकती है या फिर एक साल तक 8 लाख लोगों को पीने का पानी मुहैया कराया जा सकता है। भले ही ग़रीब आबादी सूखे के कारण भयंकर हालत में जीती रहे लेकिन निजी कम्पनियों का मुनाफ़ा कम न हो इसलिए उन्हें पानी की सप्लाई जारी रहती है। यही कारण है कि मौजूदा व्यवस्था में सूखे की समस्या को ख़त्म नहीं किया जा सकता क्योंकि सरकार आम जनता के मुकाबले मुट्ठीभर निजी लुटेरों को तरजीह देती है।

एक अन्य बात जिसके ज़रिये ऊपर कही गयी बात की पुष्टि होती है, वह यह है कि आज कृषि के विकास पर सरकार ज़्यादा ध्यान नहीं देना चाहती है और इसलिए सूखे की समस्या से उसका कोई गहरा सरोकार नहीं है। 1991 की नयी आर्थिक नीतियों के बाद तेज़ी से भारत के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में कृषि का हिस्सा कम होता गया है। आज़ादी के बाद भारत में उद्योग अपनी शैशवावस्था में थे और भारत की अर्थव्यवस्था काफ़ी हद तक कृषि पर ही निर्भर करती थी। 1961 में राष्ट्रीय आय का 57 प्रतिशत हिस्सा कृषि से आता था जो 2006 आते-आते घटकर केवल 18 प्रतिशत रह गया। इस तरह जहाँ 1950 और 60 के दशक में कृषि का संकट अथवा सूखा पूरी अर्थव्यवस्था को गहराई से प्रभावित कर सकता था, वहीं आज ऐसा नहीं रह गया है। 2002 के सूखे से भारत के सकल घरेलू उत्पाद पर मात्र 1 प्रतिशत का असर पड़ा। 2013 के आँकड़ों के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा केवल 13.7 प्रतिशत रह गया है जो 1950-51 में 52 प्रतिशत था। इस कारण से 50 और 60 के दशक में राज्य की ओर से कृषि के लिए कम से कम एक कामचलाऊ ढाँचा तो खड़ा किया ही गया। इसी दौर में कृषि का धीमी गति से पूँजीवादी रूपान्तरण भी होता रहा। आज यह रूपान्तरण पूरा हो गया है।

पूँजीवादी विकास की यह विशेषता होती है कि यह विकास कभी भी सभी क्षेत्रों में एक समान नहीं होता है। कुछ क्षेत्र दूसरों के मुकाबले पीछे छूट जाते हैं। आज भारत में जिन इलाक़ों में सूखा पड़ता है उनको सूखामुक्त करने के लिए बड़ी मात्रा में निवेश की ज़रूरत है। यह निवेश राज्य नहीं करना चाहता है जिसके पीछे दो कारण हैं - एक तो यह कि इन क्षेत्रों को सूखामुक्त करने के लिए राज्य को मोटी रक़म ख़र्च करनी पड़ेगी। हम देख ही रहे हैं कि आज राज्य कल्याणकारी नीतियों को पूरी तरह से त्याग चुका है और जनता की मेहनत का पैसा बड़े पूँजीपति घरानों की जेबों में जा रहा है। ऐसे में आज कल्याणकारी परियोजनाओं को लागू कर सरकार पूँजीपति वर्ग को हरगिज़ नाराज़ नहीं करना चाहेगी। दूसरी बात यह है कि इन इलाक़ों में पूँजीवादी विकास हो चुका है और यहाँ उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध साफ़ नज़र आ रहा है। एक तरफ़ बड़े-बड़े पावर प्लाण्ट खुल

(पेज 12 पर जारी)

मुनाफ़े की व्यवस्था में बर्बाद होना ही छोटे किसानों की नियति है

(पेज 11 से आगे)

गये हैं जो कि भारी मात्रा में पानी की माँग करते हैं और दूसरी तरफ़ कृषि भी पानी के बग़ैर सम्भव नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सरकारें औद्योगिक पूँजीपतियों को ही वरीयता देती है। मुख्यत: इन्हीं कारणों से आज इन इलाक़ों को सूखामुक्त करना किसी भी सरकार के एजेण्डे पर नहीं है।

कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण के चलते एक और परिघटना सामने आती है। वह है ग्रामीण आबादी का विभेदीकरण। जैसे-जैसे पूँजीवाद अपने पैर पसारता जाता है वैसे-वैसे बड़ी ग्रामीण आबादी लगातार अपने घर-ज़मीन से उजड़ती रहती है और या तो ग्रामीण सर्वहारा बन जाती है जो धनी किसानों के खेतों में मज़दूरी करती है या फिर वह शहरों की ओर पलायन करती है, जहाँ वह औद्योगिक पूँजीपतियों के शोषण का शिकार बनती है। सूखे की परिघटना काफ़ी हद तक इस प्रक्रिया को तेज़ बना देती है। इससे गाँवों के धनी किसानों और शहरों में उद्योगपतियों दोनों का फ़ायदा होता है। सूखा पड़ने पर जब ग्रामीण सर्वहारा आबादी के लिए खाने के भी लाले हो जाते हैं तो उनको धनी किसानों और उद्योगपतियों द्वारा बेहद सस्ती मज़दूरी पर खटाया जा सकता है। इस तरह धनी किसानों और उद्योगपतियों को सस्ता श्रम भी मुहैया हो जाता है। विशेषकर अन्य इलाक़ों के धनी किसानों को इससे काफ़ी लाभ पहुँचता है। पश्चिमी महाराष्ट्र के गन्ना किसानों को बेहद सस्ती दरों पर श्रम उपलब्ध हो जाता है जब पूर्वी महाराष्ट्र में सूखा पड़ता है। हर वर्ष बड़ी संख्या में लोग काम की तलाश में सूखाग्रस्त क्षेत्रों से पलायन करते हैं और दूसरे क्षेत्रों के धनी किसानों के लिए बेहद कम मज़दूरी पर काम करते हैं। इसके अलावा जो ग्रामीण आबादी अपनी ज़मीनों से उजड़ती है उसकी ज़मीनों को धनी किसान बेहद सस्ती दरों पर हड़प लेते हैं। ज़्यादा मूल्य की ज़मीन को थोड़ा-सा क़र्ज़ चुकाने के लिए खोना पड़ता है। इससे भी धनी किसानों को फ़ायदा होता है। निश्चित रूप से धनी किसानों को भी सूखे के दौरान भारी नुक़सान उठाना पड़ता है लेकिन चूँकि उनके पास पूँजी होती है, वे अपनी पूँजी को खेती से निकालकर कहीं ओर लगा सकते हैं। आस-पास के शहरों में वे नये काम-धन्धे शुरू कर देते हैं और सूखे के कोप से किसी हद तक खुद को बचा लेते हैं। कुल मिलाकर उनके सामने आत्महत्या करने जैसी स्थिति पैदा नहीं होती। इसके अपवाद भी हमें मिलते हैं लेकिन मुख्य रूप से आत्महत्या करने वाले किसानों में मध्यम किसानों की संख्या ज़्यादा होती है। कृषि का जब पूँजीवादी रूपान्तरण हो जाता है तो मध्यम किसान भी अधिकाधिक उपभोग के लिए नहीं बल्कि बाज़ार के लिए खेती करने लगते हैं। ऐसी फ़सलें जिन्हें कैश क्रोप्स (नक़दी फ़सलें) कहा जाता है का उत्पादन मुख्य स्थान हासिल कर लेता है। इन फ़सलों को जब किसान उगाते हैं तो इसके लिए अधिक पूँजी की भी ज़रूरत होती है और फ़सल तैयार होने का समय भी लम्बा होता है। ऊपर से ज़्यादातर ऐसी फ़सलें अधिक पानी की माँग करती हैं। इस प्रकार उत्पादन तो बाज़ार के लिए होने लगता है पर जब पानी और पूँजी की समस्या पैदा होती है तो खड़ी फ़सल बर्बाद हो जाती है। ऊपर से खेती के लिए उन्हें क़र्ज़ भी लेना पड़ता है जो वे किसी भी तरह फ़सल बेचकर नहीं चुका सकते। मुख्य रूप से इसी स्थिति में ये किसान आत्महत्या करते हैं। ग़रीब किसानों और ग्रामीण सर्वहाराओं में आत्महत्या की दर कमोबेश देशभर में कम ही रहती है और यह आबादी कहीं धीरे तो कहीं तेज़, शहरों की ओर पलायन करती रहती है। सूखे से इस पलायन की दर अवश्य बढ़ जाती है। इस तरह देखा जा सकता है कि सूखे का भी अलग-अलग वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। ज़्यादातर लोग इस पूरी प्रक्रिया को समझ नहीं पाते और लगातार राज्य के हस्तक्षेप के ज़रिये सूखे का उपाय निकालने के लिए प्रयास करते रहते हैं। उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि किसानों की आत्महत्या अन्य क्षेत्रों में भी होती है और सूखे का उपाय करने से आत्महत्याओं को रोक पाना असम्भव है। एक बार जब कृषि पूँजीवाद के अन्तर्गत आ जाती है तो मध्यम किसानों की सोच हमेशा अधिक उत्पादन करके और फ़सल को बाज़ार में अच्छे दामों पर बेचकर मुनाफ़ा कमाना होती है। जब उत्पादन के दौरान फ़सल खराब हो जाती है वह तब भी बर्बाद होता है और जब बाज़ार में उसकी फ़सल का अच्छा दाम नहीं मिलता वह तब भी बर्बाद होता है। ऐसी भी घटनाओं की कमी नहीं है जब फ़सल तो अच्छी हुई लेकिन उसका अच्छा दाम न मिल पाने के कारण किसान आत्महत्याएँ करते हैं। कुल मिलाकर मध्यम और छोटे किसानों का बर्बाद होना पूँजीवाद में अवश्यम्भावी है, सूखा केवल इसकी रफ़्तार को तेज़ कर देता है। ऐसे में ज़्यादातर लोग या संगठन जो खुद को क्रान्तिकारी भी कहते हैं वे मध्यम किसानों के बर्बाद होने पर रोते-पीटते रहते हैं और इस परिघटना की अवश्यम्भाविता को नहीं समझ पाते हैं। ऐसी समझदारी के कारण उनकी माँग भी किसानों को मुआवज़ा दिलाने तक और जो फ़सल हुई है उसका लाभकारी मूल्य बढ़ाने तक ही सिमट जाती हैं। वे इस बात को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि सूखे का सबसे भयानक प्रभाव मध्यम किसानों पर नहीं बल्कि ग्रामीण सर्वहारा या खेतिहर मज़दूर पर पड़ता है क्योंकि उसकी मज़दूरी भयंकर रूप से गिर जाती है और उसके सामने भूखों मरने का भी संकट उपस्थित हो जाता है। उसे मुआवज़ा भी नहीं मिलता और चूँकि उसके पास ज़मीन भी नहीं है ऐसे में लाभकारी मूल्य को बढ़ाने से उसे कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि इसके विपरीत सापेक्षित रूप से उसे नुक़सान ही होता है। लेकिन ग्रामीण सर्वहारा की माँग उठाने का इन लोगों के पास कोई समय नहीं होता और वे एक ऐसे रथ को रोकने की कोशिश करते रहते हैं जो तेज़ी से खाई की ओर बढ़ रहा है और जिसकी रफ़्तार कम करके उसे गिरने से नहीं रोका जा सकता। इसका कत्तई यह मतलब नहीं है कि मध्यम किसानों के बर्बाद होने पर जश्न मनाना चाहिए। इसका मतलब केवल यही है कि पूँजीवाद में मध्यम किसानों को बर्बाद होने से नहीं रोका जा सकता। इसके अलावा मुआवज़ा या लाभकारी मूल्य बढ़ने पर भी मध्यम किसान की हालत सुधर नहीं जाती। मुआवज़े और लाभकारी मूल्य का लाभ भी उसे ही अधिक मिलता है जिसके पास ज़मीन अधिक होती है यानी कि धनी किसान। क़र्ज़ माफ़ करने की माँग भी अपेक्षाकृत धनी किसानों को ही लाभ पहुँचाती है क्योंकि उन्हें सरकारी बैंकों से क़र्ज़ मिल जाता है; छोटे और मँझोले किसानों के क़र्ज़ का स्रोत मुख्यत: गाँवों या कस्बों के सूदख़ोर महाजन या फिर धनी किसान ही होते हैं और वे किसी भी परिस्थिति में क़र्ज़ माफ़ नहीं करने वाले हैं। इस तरह "प्रगतिशील" संगठनों की माँगें धनी किसानों की ही माँगें होती हैं और उनसे उस आबादी को तो कोई भी लाभ नहीं मिलता जिसकी स्थिति सबसे खराब होती है, यानी कि खेतिहर मज़दूर। उसके सामने पलायन करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचता।

जो सूखा आज हमारे सामने मौजूद है उसमें सबसे पहले तो यह बात आती है कि जिन गाँवों में पीने के पानी की भी समस्या खड़ी हो गयी है उसके लिए सरकार से त्वरित राहत पहुँचाने की माँग उठानी चाहिए। अक्सर ज़मीनी हक़ीक़त से परिचित न होने के कारण लोग छोटे पैमाने के माल उत्पादन को बचाने के लिए तो माँगें उठाते रहते हैं जिनसे कि हम ऊपर ही देख चुके हैं कि मध्यम किसानों की अपरिहार्य बर्बादी को रोका नहीं जा सकता, लेकिन सबसे अहम माँगें गायब हो जाती हैं। सबसे पहले वे माँगें हमें सामने रखनी चाहिए जो कि लोगों को समान रूप से राहत पहुँचा सके। ऐसी माँगों को सरकार यदि चाहे तो आसानी से पूरा कर सकती है। ऐसी माँगों में सबसे पहले घरेलू उपयोग के लिए पर्याप्त पानी की उपलब्धता को सुनिश्चित करने की माँग है। अगर कारणों पर ग़ौर किया जाये तो इन इलाक़ों में पीने के पानी की समस्या भी पूँजीवाद की ही देन है। बाज़ार आधारित खेती करने के लिए भूमिगत जल का विशेषकर पिछले दो दशकों में ज़बर्दस्त दोहन किया गया है। इसके परिणामस्वरूप भूमिगत जल का स्तर लगातार गिरता गया है और आज हालत यह हो गयी है कि गाँवों में लगभग सभी कुएँ और हैण्डपम्प पानी नहीं दे रहे हैं। नक़दी फ़सल उगाकर मुनाफ़ा कमाने के लिए इन इलाक़ों में जमकर बोरवैल लगाये गये और आज स्थिति यह है कि 800 फ़ीट के बोरिंग से भी पानी मिल जाये यह निश्चित नहीं है। अब केवल कुछ ही बोरवैल पानी दे रहे हैं और लोगों को कई-कई किलोमीटर दूर से पानी का इन्तज़ाम करना पड़ रहा है। सरकार द्वारा पीने के जल की भी आपूर्ति नहीं की जा रही है और पानी के टैंकरों से लोगों को 5-7 लीटर पानी ही दिया जा रहा है। अगर लोगों को घरेलू ज़रूरतों के लिए पानी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करा दिया जाता है तो इससे फ़ौरी तौर पर अस्तित्व का संकट झेल रही आबादी को राहत मिल सकती है। हालाँकि घरेलू ज़रूरतों के लिए पानी की आपूर्ति से लोगों को तात्कालिक राहत ही मिल सकती है क्योंकि जब कृषि के लिए पानी उपलब्ध नहीं होगा तो आबादी बेहद तेज़ी से शहरों की ओर पलायन करेगी।

अब सार के तौर पर कुछ बातें कही जा सकती हैं। सबसे पहले सूखे के कारण हमें इस व्यवस्था के चरित्र में ढूँढ़ने चाहिए और इसे प्राकृतिक कारणों से जनित संकट मानने की ग़लती से बचना चाहिए। बरसात कम होने के बाद भी पानी पर्याप्त मात्रा में मौजूद रहता है जिसे मुख्यत: उद्योगों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। दूसरी बात इस व्यवस्था के भीतर सूखे का पक्का उपाय असम्भव है जिसका मुख्य कारण यह है कि आज किसी इलाक़े के कृषि संकट से देश की अर्थव्यवस्था पर बहुत ज़्यादा असर नहीं पड़ता है और धनिक वर्ग को इससे फ़ायदा ही होता है क्योंकि उसे सस्ता श्रम उपलब्ध हो जाता है। तीसरी बात, हालाँकि सूखाग्रस्त इलाक़े में सभी वर्गों को मुश्किलों को सामना करना पड़ता है लेकिन फिर भी इसका असर सभी वर्गों पर भिन्न होता है। खेतिहर मज़दूरों को इसका सबसे ज़्यादा नुक़सान उठाना पड़ता है। छोटे-मँझोले किसानों के बर्बाद होकर सर्वहारा वर्ग में शामिल होने की गति सूखे के कारण बेहद तेज़ हो जाती है और कोई भी उपाय इस बर्बादी को रोक पाने में अक्षम होता है। चौथी बात सूखे की समस्या का निदान हो जाने पर भी किसानों की सभी समस्याएँ दूर नहीं हो जाती हैं और सूखे को ही आत्महत्याओं का एकमात्र कारण समझना भी एक ग़लती है। यदि सूखे की समस्या का समाधान कर लिया जाता है तब भी गाँवों में विभेदीकरण की प्रक्रिया जारी रहती है। ऐसी माँगों के ज़रिये जो केवल प्रभुत्वशाली वर्ग को ही लाभ पहुँचाती हों, से सूखे की समस्या का निपटारा नहीं हो सकता। हमें सबसे पहले ऐसी ज़रूरी माँगों को उठाना होगा जो सभी को समान रूप से राहत पहुँचाये। इसका मतलब यह नहीं है कि हमें सरकार से सूखे का स्थायी समाधान करने की माँग नहीं उठानी चाहिए और केवल तात्कालिक राहत कार्यों की माँग ही उठानी चाहिए। हमें निश्चित तौर पर सूखे का स्थायी समाधान करने की माँग भी उठानी चाहिए भले ही सरकार उसे पूरा न करे, लेकिन ऐसी माँगों के ज़रिये इस व्यवस्था के चरित्र को अधिकाधिक छोटे-मँझोले किसानों और ग्रामीण सर्वहाराओं के सामने बेनकाब किया जा सकता है।

क्या नाना पाटेकर की मदद से ग़रीब किसानों की समस्याएँ दूर हो जायेंगी

इस साल जब किसानों की आत्महत्याओं का मामला उठा तो नाना पाटेकर ने खुद को उनके रहनुमा के तौर पर पेश किया है। नाना पाटेकर ने किसानों को आर्थिक मदद पहुँचाने के लिए एक मुहिम ही शुरू कर दी है। नाना ने कहा कि किसान आत्महत्या न करें और अगर कोई समस्या है तो आकर उन्हें बतायें, वे उनकी मदद करेंगे। महाराष्ट्र के अलग-अलग शहरों से लोगों ने नाना पाटेकर का साथ दिया और चन्दा जमा करना शुरू कर दिया। अक्षय कुमार समेत कई कलाकारों ने भी किसानों की मदद के लिए खुद को पेश किया। इस तरह मुख्य धारा के मीडिया समेत सोशल मीडिया पर नाना पाटेकर की जय-जयकार हो उठी। लेकिन एक सवाल जो सबसे पहले उठना चाहिए था या जिसे बड़ी ही होशियारी से मुख्य धारा के मीडिया ने छुपा लिया है, वह है कि क्या वास्तव में सूखे और आत्महत्याओं की समस्याओं को इस तरह की मुहिम द्वारा दूर किया जा सकता है। हो सकता है नाना पाटेकर बहुत ही नेकदिल इन्सान हों (हालाँकि यह बात थोड़े शक के साथ ही कही जा सकती है क्योंकि नाना पाटेकर बड़ी चतुराई से इस समस्या पर सरकार को अपनी ज़िम्मेदारी से भागने का मौक़ा देते हैं और साफ़ कहते हैं कि सरकार इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं है।) लेकिन इस मुहिम से किसान समस्या का हल बिल्कुल सम्भव नहीं है। इस तरह की एन.जी.ओ. वादी मुहिम थोड़ी राहत पहुँचाने के नाम पर जनता को गुमराह करती हैं और समस्या के वास्तविक कारणों तक पहुँचने से रोकती है। यह जनता का भरोसा सुधारवादी राजनीति में पैदा करती है और उन्हें क्रान्तिकारी राजनीति से दूर रखने में एक मज़बूत दीवार का काम करती है। असल में तो यह सरकार की ही ज़िम्मेदारी बनती है कि सूखाग्रस्त इलाक़ों में पानी पहुँचाये और ऐसी परियोजनाओं को जल्द से जल्द क्रियान्वित करे जो भविष्य में उन इलाक़ों को सूखे का कोप झेलने की सम्भावनाओं से मुक्त करे। सूखे की समस्या का निदान ऐसी किसी भी मुहिम के ज़रिये नहीं हो सकता है।

- विराट

रोबर्ट ओवन : महान काल्पनिक समाजवादी

मज़दूर वर्ग की मुक्ति का रास्ता पूँजीवादी सुधारवाद, कल्याणकारी राज्य या सहकारिता नहीं बल्कि वैज्ञानिक समाजवाद यानी सर्वहारा क्रान्ति ही हो सकती है। इतिहास इस बात को साबित कर चुका है। मार्क्स और एंगेल्स का वैज्ञानिक समाजवाद दरअसल उनसे पहले मौजूद काल्पनिक मानवतावादी समाजवादियों के प्रयोगों की आलोचना के द्वारा ही विकसित हुआ। आज संशोधनवादी मज़दूर वर्ग को गुमराह करने के लिए समाजवाद के नाम पर पूँजीवादी सुधारवाद, कल्याणकारी राज्य या संसदीय गणतन्त्र की वकालत करते हैं। दरअसल वे ज़माने से 200 वर्ष पीछे हैं या असल में कहें तो हमारे सामने जानबूझकर ऐसे सिद्धान्तों को पेश करते हैं जो 200 साल पहले ही ग़लत साबित हो चुके हैं। काल्पनिक समाजवादियों के प्रयोगों और उनकी वैज्ञानिक आलोचना से यह साबित किया जा चुका है कि मज़दूर वर्ग की मुक्ति का असली मार्ग सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना ही हो सकती है। आइये इसी को समझने के लिए हम एक महान काल्पनिक समाजवादी रोबर्ट ओवन के प्रयोगों की चर्चा करते हैं। रोबर्ट ओवन को एंगेल्स बेहतरीन नेतृव क्षमता का व्यक्तित्व मानते थे और अपनी पुस्तक "समाजवाद काल्पनिक व वैज्ञानिक" में उन्होंने रोबर्ट ओवन के प्रयोगों का ज़िक्र किया है।

रोबर्ट ओवन का शुरुआती जीवन

रोबर्ट ओवन का जन्म इंग्लैण्ड के न्यूटाउन शहर में सन् 1771 में हुआ था। उनके पिता एक छोटे व्यापारी थे। ओवन ने 16 वर्ष की आयु में एक दुकान में काम करना शुरू कर दिया। मेनचेस्टर में उन्हें एक कॉटन मिल में काम मिल गया। 21 साल के ओवन इसी मिल में प्रबन्धक बन गये। 1793 में उन्हें मेनचेस्टर लिटरेरी एण्ड फ़िलोसोफ़िकल सोसाइटी के सदस्य के तौर पर चुना गया जहाँ उन्होंने सुधारवाद और प्रबोधन के विचार को ग्रहण किया। इसे उन्होंने अपने जीवन में लागू भी किया। मेनचेस्टर की फ़ैक्टरी में उन्होंने अपने अधीन कार्यरत 500 मज़दूरों के स्वास्थ्य और काम की स्थितियों में सुधार की दिशा में काम किया। इसी समय उनके मन में समाज को बदलने व ग़रीबी ख़त्म करने के विचारों को लेकरम उधेड़बुन भी शुरू हो गयी थी। वे भौतिकवादी दर्शन को मानते थे। उनका मानना था कि मनुष्य के चरित्र का निर्माण उसकी अनुवांशिकी तथा उसके जीवन की परिस्थितियों, ख़ासकर जब उसका विकास हो रहा हो, से होता है। इसलिए उनका मानना था कि अगर मनुष्य को बदलना है तो उसके जीवन की परिस्थितियों को बदलना ज़रूरी है और अपने इस सिद्धान्त को उन्होंने हरसम्भव ढंग से प्रयोग में लाने की कोशिश की। उनके अनुसार कोई भी सिद्धान्त सुनने में बहुत अच्छा लग सकता है परन्तु उसकी असली परख प्रयोग में होती है। इस प्रयोगधर्मिता का पालन वे ज़िन्दगीभर करते रहे। औद्योगिक क्रान्ति के युग में जहाँ दूसरे पूँजीपति अराजकता को उत्पादन का नियम मानते थे और इस समय को बेहिसाब मुनाफ़ा कूटने का अवसर मान रहे थे, ओवन अपने सिद्धान्त को मूर्त रूप देने और इस अराजकता को व्यवस्था प्रदान करने के अवसर के रूप में देख रहे थे। इसकी शुरुआत वह मेनचेस्टर में कर चुके थे, लेकिन उनका सबसे बड़ा प्रयोग न्यू लेनार्क की कॉटन मिल में हुआ।

न्यू लेनार्क का प्रयोग

रोबर्ट ओवन का सबसे प्रसिद्ध और सफल प्रयोग न्यू लेनार्क के कॉटन मिल में किये गये उनके कामों को माना जाता है। सन 1800 से 1821 के बीच ओवन ने स्कॉटलैण्ड की न्यू लेनार्क नामक जगह में एक नयी आदर्श कॉलोनी बसायी। ओवन के अनुसार - "किसी भी क़िस्म का मानवीय चरित्र समुचित साधनों से किसी भी समाज को दिया जा सकता है चाहे वह समाज चेतस हो या भले ही अज्ञानी हो, बल्कि यह बात पूरी दुनिया पर लागू होती है" और इस बात को लागू करते हुए ही उन्होंने यह दिखाया कि कैसे जब नरक सरीखी ज़िन्दगी में जी रहे मज़दूरों को बेहतर परिस्थिति में जीने का मौक़ा मिला तो उनके जीवन में भारी बदलाव हुआ। मज़दूरों के बीच से शराबखोरी, ग़रीबी आदि ख़त्म हो गये। 500 मज़दूरों से शुरू हुई इस कॉलोनी की आबादी बढ़कर 2500 तक पहुँच गयी। उन्होंने अपनी फ़ैक्टरी में अनाथ बच्चों से काम करवाना बन्द करवा दिया और उनके लिए शिक्षा के बेहतर उपाय ढूँढ़े। न्यू लेमार्क कॉलोनी के लोगों के लिए ओवन ने कायदे और क़ानून भी बनाये जिससे लोग अपने घर और गलियों को साफ़-सुथरा और सुरक्षित रख सकें। इस नियम का पालन करवाने के लिए कॉलोनी के लोगों की समिति का गठन किया गया। कॉलोनी में दुकानें भी खोली गयी जहाँ ख़रीद दर पर सामान मिलता था। दो बड़े स्कूल खोले गये जहाँ सभी निवासियों के लिए दिन और शाम की क्लास मुहैया करायी जाती थी। बीमारों के इलाज के लिए एक फ़ण्ड बनाया गया जिससे सभी को डॉक्टर और दवाई मुहैया करायी जा सके।

उनका मानना था कि बच्चों का आदर्श इंसान के रूप में गढ़ने का काम बेहतर शिक्षा के ज़रिये दिया जा सकता है। उनके न्यू लेनार्क के प्रयोग में बच्चों की शिक्षा पर ख़ास तौर पर ज़ोर दिया जाता था। उन्होंने दुनिया का पहला शिशु विद्यालय खोला, जहाँ 2 वर्ष से ऊपर के बच्चे आते थे। बच्चों के लिए सभी सुविधाएँ मौजूद थीं, उनके लिए नहाने की मशीन तक उपलब्ध करायी जाती थी। वहाँ बच्चे इतना आनन्दित होते कि वे वापस घर जाना ही नहीं चाहते थे। विद्यालय में बच्चों को भूगोल, इतिहास, विज्ञान और कला के साथ-साथ गीत, संगीत, नृत्य और प्रकृति की शिक्षा भी दी जाती थी। ओवन मानते थे कि पाठ को मनोरंजक और प्रेरक बनाया जाना चाहिए, इसके लिए बच्चों को क्लास रूम के अलावा बाहर भी ले जाया जाता था। फ़ैक्टरी के अन्दर भी उन्होंने कई बदलाव किये। जहाँ दूसरे पूँजीपति 13-14 घण्टे काम करवाते थे, वहीं न्यू लेनार्क में श्रम काल केवल साढ़े दस घण्टे का ही था। जब संकट की वजह से कॉटन मिल 4 महीनों तक बन्द थी, तब भी मज़दूरों को पूरा वेतन दिया गया था।

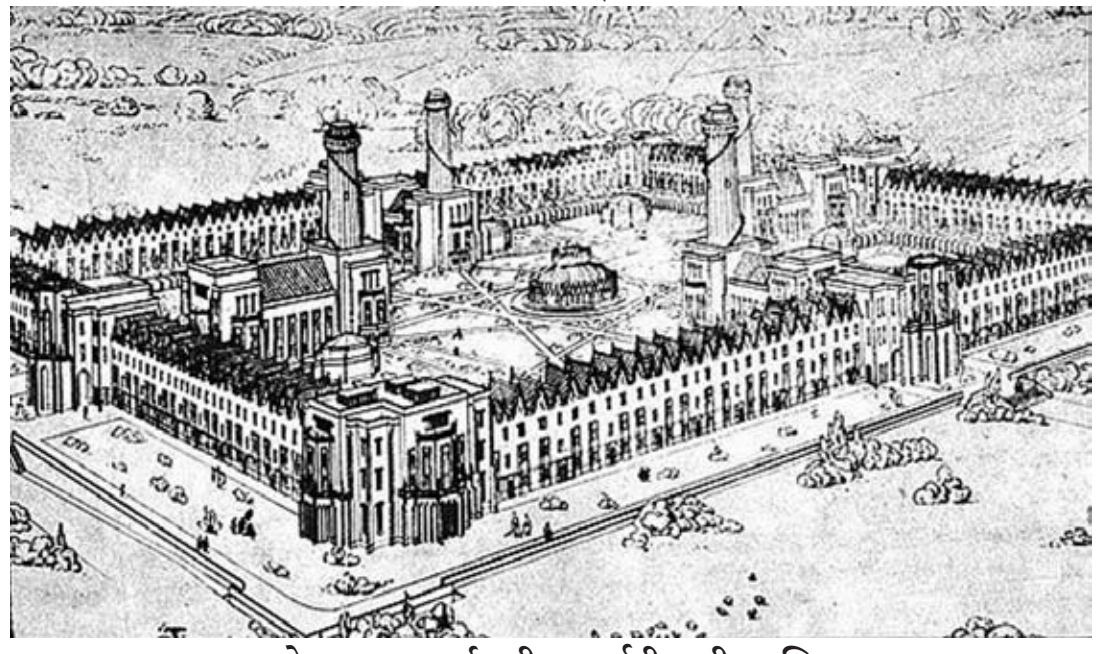

ओवन द्वारा बसाई गयी न्यू हार्मनी बस्ती का चित्र

इस बेहतर स्थिति के बावजूद ओवन के मन में कुछ सवाल थे। उन्होंने लिखा कि मिल का व्यापार दोगुनी गति से वृद्धि कर रहा था और इस दौरान मालिकों ने 30000 पौंड से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाया। वहीं मज़दूरों की स्थिति में जो भी सुधार हुआ था वो नाकाफ़ी था और अभी भी वो इंसानी गरिमा से बहुत दूर थे। आज 2500 मज़दूर जितना उत्पादन करते हैं करीब 50 साल पहले इतना ही उत्पादन करने के लिए 60000 मज़दूरों की ज़रूरत पड़ती थी। लेकिन 2500 और 60000 मज़दूरों के बीच के धन का अन्तर कहाँ जाता है? जवाब साफ़ था पूँजीपतियों के मुनाफ़े के रूप में। इसका साफ़ मतलब यह निकलता है कि मशीनरी और तकनीक के विकास से मज़दूरों का बहुत कम भला हुआ, उलटे इसका पूरा फ़ायदा पूँजीपतियों को ही मिला। ओवन ने इससे नतीजा निकाला कि परोपकार से मज़दूरों का बहुत भला नहीं होने वाला है। जब तक उत्पादन के साधनों पर निजी क़ब्ज़ा रहेगा तब तक कुछ लोग बेहिसाब अमीर होते जायेंगे व बाक़ी मेहनतकश लोग ग़रीब! समाज सुधार की दिशा में उनको तीन बड़ी बाधाएँ नज़र आयीं - निजी सम्पत्ति, धर्म और विवाह का वर्तमान स्वरूप। इस तरह देखा जा सकता है कि वे कम्युनिज़्म की तरफ़ अपना क़दम बढ़ा रहे थे और ये उनके जीवन का निर्णायक मोड़ था। जब तक वे साधारण परोपकारी थे धन, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, यश से नवाजे जाते थे। वे यूरोप के सबसे लोकप्रिय व्यक्ति थे। उच्च कुलीनों, राजनेताओं और राजा-महाराजाओं में उनकी बड़ी साख थी। लेकिन जब उन्होंने कम्युनिस्ट विचारों को अपनाया तो सब कुछ बदल चुका था। वे समाज से बहिष्कृत कर दिये गये, अख़बार में उनके ख़िलाफ़ चुप्पी का षड्यन्त्र रचा गया यानी कि उनके प्रयोगों की ख़बर को पूरी तरह से दरकिनार किया गया और उनको गुमनामी के अँधेरे में डाल दिया गया। उन्हें पता था कि अपने विचारों को लेकर आगे बढ़े तो वे उस समाज से बहिष्कृत हो जायेंगे जिसमें वे उठते-बैठते हैं परन्तु उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप प्रयोग जारी रखा।

काल्पनिक समाजवाद व वैज्ञानिक समाजवाद का अन्तर

रॉबर्ट ओवन ने अपना बाक़ी जीवन न्यू लेनार्क के प्रयोगों को और बड़े स्तर पर संगठित करने में लगाया। निजी सम्पत्ति और मुनाफ़े पर टिकी इस सामाजिक व्यवस्था की जगह सहकारिता पर आधारित समुदायों की वकालत की। कम्युनिस्ट समाज में संक्रमण करने के लिए उनके द्वारा प्रस्तावित सहकारी समाज व्यवस्था में उत्पादन और खुदरा व्यापार की व्यवस्था थी व विनिमय के लिए श्रम बाज़ार की व्यवस्था की बात थी। उन्होंने संसद और अख़बारों से अपील की कि इस सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा दिया जाये। हर गाँव आत्मनिर्भर समुदाय की तरह रहे जिसमें 500 से 1000 तक की आबादी हो जो सामूहिक तौर पर कृषि और उद्योग में काम करें। हर परिवार के पास अपना निजी मकान हो और इस तरह की छोटी-छोटी सहकारिता से पूरे समाज का निर्माण हो। इस व्यवस्था ने यह साबित कर दिया कि व्यापारी और फ़ैक्टरी मालिक इस व्यवस्था में जोंक हैं व उत्पादन में उनकी कोई ज़रूरत नहीं है। दूसरी तरफ़ इस समाज में विनिमय के लिए उन्होंने श्रम बाज़ार का प्रयोग किया। लोगों को उनके काम के बदले श्रम नोट मिलेंगे जिसके बदले में वे श्रम के उत्पादों को हासिल कर सकते थे। इन श्रम नोटों की क़ीमत काम के घण्टे से तय होती थी। एंगेल्स इस विषय में ज़ोर देते हुए बताते हैं कि ओवन के श्रम बाज़ार का यह प्रतिष्ठान भले ही असफल अवधारणा थी परन्तु यह प्रूधों के विनिमय बैंक से ऊँचे स्तर का सिद्धान्त था क्योंकि ओवन इस श्रम बाज़ार को कम्युनिज़्म की दिशा में बढ़ाया गया पहला क़दम मानते थे जबकि प्रूधों के लिए इसके ज़रिये ही सभी सामाजिक बुराइयों को ख़त्म किया जा सकता था। ओवन के अनुसार सहकारिता और श्रम बाज़ार की इस संक्रमणकालीन व्यवस्था में लोगों

(पेज 14 पर जारी)

आज का समय – कुछ कविताएँ

जब फासिस्ट मज़बूत हो रहे थे

जर्मनी में
जब फासिस्ट मजबूत हो रहे थे
और यहां तक कि
मजदूर भी
बड़ी तादाद में
उनके साथ जा रहे थे
हमने सोचा
हमारे संघर्ष का तरीका गलत था
और हमारी पूरी बर्लिन में
लाल बर्लिन में
नाजी इतराते फिरते थे
चार-पांच की टुकड़ी में
हमारे साथियों की हत्या करते हुए
पर मृतकों में उनके लोग भी थे
और हमारे भी
इसलिए हमने कहा
पार्टी में साथियों से कहा
वे हमारे लोगों की जब हत्या कर रहे हैं
क्या हम इंतजार करते रहेंगे
हमारे साथ मिल कर संघर्ष करो
इस फासिस्ट विरोधी मोरचे में
हमें यही जवाब मिला
हम तो आपके साथ मिल कर लड़ते
पर हमारे नेता कहते हैं
इनके आतंक का जवाब लाल आतंक नहीं है
हर दिन
हमने कहा
हमारे अखबार हमें सावधान करते हैं
आतंकवाद की व्यक्तिगत कार्रवाइयों से
पर साथ-साथ यह भी कहते हैं
मोरचा बना कर ही
हम जीत सकते हैं
कामरेड, अपने दिमाग में यह बैठा लो
यह छोटा दुश्मन
जिसे साल दर साल
काम में लाया गया है
संघर्ष से तुम्हें बिलकुल अलग कर देने में
जल्दी ही उदरस्थ कर लेगा नाजियों को
फैक्टरियों और खैरातों की लाइन में
हमने देखा है मजदूरों को
जो लड़ने के लिए तैयार हैं
बर्लिन के पूर्वी जिले में
सोशल डेमोक्रेट जो अपने को लाल मोरचा कहते हैं
जो फासिस्ट विरोधी आंदोलन का बैज लगाते हैं
लड़ने के लिए तैयार रहते हैं
और चायखाने की रातें बदले में गुंजार रहती हैं
और तब कोई नाजी गलियों में चलने की हिम्मत
नहीं कर सकता
क्योंकि गलियां हमारी हैं
भले ही घर उनके हों

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

अंग्रेजी से अनुवादः रामकृष्ण पाण्डेय

रोबर्ट ओवन

(पेज 13 से आगे)

की आत्मनिर्भरता और पहलक़दमी से राजनीतिक संस्था में सुधार हो जायेगा और ये आत्मनिर्भर गाँवों का समूह राज्य को अनावश्यक बना देगा। इसी प्रयोग को उन्होंने अमेरिका के न्यू हार्मोनी नमक शहर में करने की कोशिश की जो कि बुरी तरह से असफल हुआ। ओवन ने पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ऐसा करने का सपना देखा लेकिन उनकी ग़लती यह थी कि वे अपने दिमाग़ में सोची व्यवस्था को असल व्यवस्था पर लागू करना चाहते थे। जबकि सवाल यह है कि जो मौजूद है उसके अन्तर्विरोधों को समझकर, असल व्यवस्था को बदलने का रास्ता जाना जाये। सभी काल्पनिक समाजवादी फ़्रांसीसी क्रान्ति के नारे - आज़ादी, समानता और भ्रातृत्व के आदर्श सिद्धान्तों से ऊर्जा प्राप्त करते थे। वह ऐतिहासिक भौतिकवाद की रोशनी में मौजूदा समाज के सम्बन्धों के अस्तित्व में आने व उसके विकास को नहीं समझते थे। उनके लिए अभी दुनिया उल्टी खड़ी थी जिसे सिर के बल पलटकर सीधा खड़ा करना ज़रूरी था। यह ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण ही कर सकता था। पूँजीवादी राज्यसत्ता के रहते ओवन की सहकारिता की कल्पना केवल एक यूटोपिया (कल्पना) ही हो सकती है। पूँजीवादी राज्यसत्ता दरअसल पूँजीपति वर्ग की ही राज्यसत्ता होती है जो निजी सम्पत्ति की इंच-इंच रक्षा करती है। पूँजीवादी राज्यसत्ता पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े और सम्पत्ति के ख़िलाफ़ खड़े होने वाली हर प्रकार की शक्ति का बलपूर्वक दमन करती है या उसे मुख्यधारा से बाहर कर देती है (जैसाकि ओवन के साथ हुआ)। इसलिए पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता को चकनाचूर और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना किये बग़ैर निजी सम्पत्ति और मुनाफ़े का विलोप नहीं सम्भव है। दूसरी बात, बाज़ार पूँजीवादी प्रतियोगिता के नियम से चलता है, प्रतियोगिता में टिके रहने के लिए लागत मूल्य कम-से-कम करना होता है और इसके लिए, एक तरफ़ तो उत्पादन को बढ़ाने के लिए नयी तकनीक और मशीनरी का इस्तेमाल किया जाता है, दूसरी ओर अधिक-से-अधिक मज़दूरों की छँटनी की जाती है, जिससे ग़रीबी और बेरोज़गारी बढ़ती है। इसलिए, प्रतियोगिता और माल उत्पादन के रहते मज़दूरों की बेहतर ज़िन्दगी सम्भव ही नहीं है। यही वैज्ञानिक और काल्पनिक समाजवाद के बीच व्यावहारिक अन्तर है।

न्यू हार्मोनी के प्रयोग के असफल हो जाने के बाद ओवन लन्दन आ गये और जीवन के अन्तिम 30 वर्षों में सीधे मज़दूर वर्ग के बीच काम करते रहे। उन्होंने 5 वर्षों के संघर्ष के बाद महिलाओं और बच्चों के काम के घण्टे कम करने के क़ानून को पास कराया। ओवन इंग्लैण्ड के ट्रेड यूनियन आन्दोलन की बड़ी शख्सियत बन गये थे। इंग्लैण्ड की सभी ट्रेड यूनियनों की एक बड़ी एसोसिएशन की पहले कांग्रेस के वे अध्यक्ष चुने गये। वे एक महान मानवतावादी, परोपकारी और काल्पनिक समाजवादी थे। लेकिन अपने सारे प्रयोगों के बावजूद उनका समाजवाद काल्पनिक ही था क्योंकि वह समाजवाद के विज्ञान यानी ऐतिहासिक भौतिकवादी नज़रिये को लागू कर वर्ग संघर्ष, सर्वहारा अधिनायकत्व, सर्वहारा राज्यसत्ता और क्रान्ति को नहीं समझ पाये थे। वैज्ञानिक समाजवाद के रचयिता मार्क्स और एंगेल्स ने उनके और दूसरे काल्पनिक समाजवादियों के योगदान को आगे बढ़ाते हुए सुसंगति प्रदान की और समाजवाद और कम्युनिज़्म को वैज्ञानिक ज़मीन पर खड़ा किया और मानव मुक्ति की परियोजना की कल्पना को ठोस रूप दिया। अगले अंकों में हम दूसरे काल्पनिक समाजवादियों के प्रयोग और सिद्धान्त की चर्चा करेंगे।

– अमित

रोजी रोटी का
सवाल खड़ा करती है जनता
शासन कुछ देर सिर खुजलाता है
एकाएक साम्प्रदायिक फसाद शुरू हो जाता है
हर हाथ के लिए काम माँगती है जनता
शासन कुछ देर विचार करता है
एकाएक साम्प्रदायिक फसाद शुरू हो जाता है
अपने बुनियादी हक़ों का
हवाला देती है जनता
शासन कुछ झपकी लेता है
एकाएक साम्प्रदायिक फसाद शुरू हो जाता है
साम्प्रदायिक फसाद शुरू होते ही
हरक़त में आ जाती हैं बंदूकें
स्थिति कभी गम्भीर
कभी नियंत्रण में बतलाई जाती है
एक लम्बे अरसे के लिए
स्थगित हो जाती है जनता
और उसकी माँगें
इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में शासन
अपनी चरमराती कुर्सी को
ठोंकपीट कर पुनः ठीक
कर लेता है।

– नरेन्द्र जैन

गोयबल्स

असत्य के टॉवर की
ऊपरी मंज़िल पर खड़ा
गोयबल्स हँसता है,
बरसता है
ख़ून सना अन्धकार।
गोयबल्स हँसता है,
उसके क़लमनवीसों की क़लमें
काग़ज़ पर सरसराती हैं
धरती पर घिसटती
क़ैदी के हाथ-पाँवों में
बँधी ज़ंजीरों की तरह।
गोयबल्स हँसता है
और चारों ओर से
हिंस्र पशुओं की आवाज़ें
गूँजने लगती हैं।
नात्सी बूटों की धमक की तरह
गूँजती है
गोयबल्स की हँसी।

गोयबल्स हँसता है
तभी ख़तरे के सायरन
बज उठते हैं।
उसकी हँसी रुकने तक
फ़ायर ब्रिगेड की गाड़ियाँ
सड़कों पर बिखरे
ख़ून के धब्बों को
धोना शुरू कर चुकी होती हैं।
गोयबल्स हँसता है
और हवा में हरे-हरे नोट
उड़ने लगते हैं,
सत्ता के गलियारों में जाकर
गिरने लगते हैं,
ख़ाकी वर्दीधारी घायल स्त्री-पुरुषों को
घसीटकर गाड़ियों में
भरने लगते हैं।
गोयबल्स हँसता है
और टॉवर के तहख़ाने में
छापाख़ाने की मशीनें
चल पड़ती हैं।
गोयबल्स हँसता है
तब तक,
जब तक प्रतिवाद नहीं होता।
निर्भीक ढंग से
खड़े रहकर,
सिर्फ़ खड़े रहकर
रोकी जा सकती है
यह मनहूस काली हँसी
और जब लोग
आगे बढ़ते हैं,
यह हँसी एक सन्नाटे में
गुम हो जाती है।

– कात्यायनी

देश काग़ज़ पर बना नक्शा नहीं होता

यदि तुम्हारे घर के
एक कमरे में आग लगी हो
तो क्या तुम
दूसरे कमरे में सो सकते हो ?
यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में
लाशें सड़ रहीं हों
तो क्या तुम
दूसरे कमरे में प्रार्थना कर सकते हो ?
यदि हाँ
तो मुझे तुम से
कुछ नहीं कहना है ।
देश काग़ज़ पर बना
नक्शा नहीं होता
कि एक हिस्से के फट जाने पर
बाकी हिस्से उसी तरह साबुत बने रहें
और नदियाँ, पर्वत, शहर, गाँव
वैसे ही अपनी-अपनी जगह दिखें
अनमने रहें ।
यदि तुम यह नहीं मानते
तो मुझे तुम्हारे साथ
नहीं रहना है ।
इस दुनिया में आदमी की जान से बड़ा
कुछ भी नहीं है
न ईश्वर
न ज्ञान
न चुनाव

काग़ज़ पर लिखी कोई भी इबारत
फाड़ी जा सकती है
और ज़मीन की सात परतों के भीतर
गाड़ी जा सकती है।
जो विवेक
खड़ा हो लाशों को टेक
वह अन्धा है
जो शासन
चल रहा हो बन्दूक की नली से
हत्यारों का धन्धा है
यदि तुम यह नहीं मानते
तो मुझे
अब एक क्षण भी
तुम्हें नहीं सहना है ।
याद रखो
एक बच्चे की हत्या
एक औरत की मौत
एक आदमी का
गोलियों से चिथड़ा तन
किसी शासन का ही नहीं
सम्पूर्ण राष्ट्र का है पतन ।
ऐसा ख़ून बहकर
धरती में जज़्ब नहीं होता
आकाश में फहराते झंडों को
काला करता है ।
जिस धरती पर
फौजी बूटों के निशान हों
और उन पर
लाशें गिर रही हों
वह धरती
यदि तुम्हारे ख़ून में
आग बन कर नहीं दौड़ती
तो समझ लो
तुम बंजर हो गये हो –
तुम्हें यहाँ साँस लेने तक का नहीं है अधिकार
तुम्हारे लिए नहीं रहा अब यह संसार।
आख़िरी बात
बिल्कुल साफ़
किसी हत्यारे को
कभी मत करो माफ़
चाहे हो वह तुम्हारा यार
धर्म का ठेकेदार ,
चाहे लोकतंत्र का
स्वनामधन्य पहरेदार।

– सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2014-2016
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

सेठों ने डकारे बैंकों के 1.14 लाख करोड़ रुपये

अभी हाल में एक आरटीआई आवेदन के ज़रिये इस बात का खुलासा हुआ कि 2013 से 2015 के बीच देश के सरकारी बैंकों ने एक लाख 14 हज़ार करोड़ रुपये के कर्ज़े माफ़ कर दिये। इनमें से 95 प्रतिशत कर्ज़े बड़े और मझोले उद्योगों के करोड़पति मालिकों को दिये गये थे।

यह रकम कितनी बड़ी है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अगर ये सारे कर्ज़दार अपना कर्ज़ा लौटा देते तो 2015 में देश में रक्षा, शिक्षा, हाईवे और स्वास्थ्य पर खर्च हुई पूरी राशि का खर्च इसीसे निकल आता।

इसमें हैरानी की कोई बात नहीं। पूँजीपतियों के मीडिया में हल्ला मचा-मचाकर लोगों को यह विश्वास दिला दिया जाता है कि अर्थव्यवस्था में घाटे के लिए आम लोग ज़िम्मेदार हैं क्योंकि वे अपने पूरे टैक्स नहीं चुकाते, बिल नहीं भरते, या शिक्षा, अस्पताल, खेती आदि में सरकारी सब्सिडी बहुत अधिक है, आदि-आदि। ये सब बकवास है। देश की ग़रीब जनता कुल टैक्सों का तीन-चौथाई से भी ज़्यादा परोक्ष करों के रूप में चुकाती है। मगर इसका भारी हिस्सा नेताशाही और अफ़सरशाही की ऐयाशियों पर और धन्नासेठों को तमाम तरह की छूटें और रियायतें देने पर खर्च हो जाता है।

मंजुल का कार्टून

इतने से भी उनका पेट नहीं भरता तो वे बैंकों से भारी कर्ज़े लेकर उसे डकार जाते हैं। ग़रीबों के कर्ज़े वसूल करने के लिए उनकी झोपड़ी तक नीलाम करवा देने वाली सरकार अपने इन माई-बापों से एक पैसा नहीं वसूल पाती और फिर कई साल बाद उन्हें माफ़ कर दिया जाता है। दरअसल इस सारी रकम पर जनता का हक़ होता है। करोड़ों लोगों की छोटी-छोटी बचतों से बैंकों को जो भारी कमाई होती है, उसी में से वे ये दरियादिली दिखाते हैं।

आइये अब ज़रा देखते हैं कि इन चोरों में से 10 सबसे बड़े चोर कौन हैं:

1. टॉप टेन में सबसे ऊपर हैं, अनिल अम्बानी का रिलायंस ग्रुप जो 1.25 लाख करोड़ रुपये का कर्ज़ दबाये बैठा है।

2. दूसरे नंबर पर है अपने कारख़ानों के लिए हज़ारों आदिवासियों को उजाड़ने वाला वेदान्ता ग्रुप जिस पर 1.03 लाख करोड़ कर्ज़ है।

3. एस्सार ग्रुप पर 1.01 लाख करोड़ कर्ज़ है।

4. मोदी के खास अडानी ग्रुप ने बैंकों के 96,031 करोड़ रुपये नहीं लौटाये हैं। इसके बाद भी उसे 6600 करोड़ रुपये के नये कर्ज़ की मंजूरी दे दी गयी थी लेकिन शोर मच जाने के कारण रद्द हो गयी।

5. जेपी ग्रुप पर 75,163 करोड़ का ऋण है।

6. सज्जन जिन्दल (जो मोदी की पाकिस्तान यात्रा के समय वहाँ पहुँचे हुए थे) के जे.एस. डब्ल्यू. ग्रुप पर 58,171 करोड़ का कर्ज़ है।

7. जी.एम.आर. ग्रुप पर 47,975 करोड़ का ऋण है।

8. लैंको ग्रुप पर 47,102 करोड़ का ऋण है।

9. सांसद वेणुगोपाल धूत की कंपनी वीडियोकॉन पर बैंकों का 45,405 करोड़ का ऋण है।

10. जीवीके ग्रुप कुल 33,933 करोड़ दबाये बैठा है जो 2015 में मनरेगा के लिए सरकारी बजट (34000 करोड़) से भी ज़्यादा है।

– संजय

दवा उद्योग का आदमख़ोर गोरखधन्धा

(पेज 1 से आगे)

मनमानी कीमत के साथ इस दवा को बाज़ार में उतारती है और अकूत मुनाफा कमाती है। पेटेंट की अवधि खत्म हो जाने पर कम्पनी को इस दवा का फ़ॉर्मूला सार्वजनिक करना पड़ता है और इसके बाद दूसरी कंपनियां भी इस दवा को बनाकर बेच सकती हैं। अब कम्पटीशन ज्यादा हो जाने की वजह से ये कंपनियाँ इस दवा को बहुत सस्ता बेचती हैं। इन्हीं सस्ती दवाओं को जेनेरिक दवाएँ कहा जाता है। लेकिन जिस कम्पनी ने सबसे पहले दवा को बाज़ार में उतारा था और दूसरी कंपनियां जो बड़े नामों वाली हैं इसी खास दवा को उतने ही महँगे दामों पर बेचती हैं जितने शुरू में थे। इस महँगे ब्रांड की बिक्री अनवरत जारी रहे इसके लिए दावे किये जाते हैं कि महँगी दवाएं जेनेरिक दवाओं की बजाय गुणवत्ता में बेहतर होती हैं। आम लोग ही नहीं बहुत से डॉक्टर भी विश्वास करते हैं कि जेनेरिक दवाओं की क्वालिटी इतनी अच्छी नहीं होती। आइये देखते हैं इन दावों में कितनी सच्चाई है। अमेरिका के बोस्टन में हार्वर्ड मेडिकल स्कूल में 2008 में 47 हृदय रोगों की जेनेरिक और ब्रांडेड दवाओं पर शोध किया गया और पाया गया कि जेनेरिक दवाएँ अपनी रासायनिक संरचना में ब्रांडेड दवाओं के बराबर हैं। जो अन्तर शोधकर्ताओं को मिला वह उनके बनाने की विधि और गोलियों के आकार और रंग जैसे चिकित्सीय रूप से गैरज़रूरी गुणों में था। 2009 में अमेरिका में ही हुए एक अन्य शोध में भी पाया गया कि जेनेरिक दवाएँ औषधीय गुणों में ब्रांडेड दवाओं के बराबर हैं। इस तरह हम देखते हैं कि यह अन्तर सिर्फ मुनाफ़े का है और यह भी कि मुनाफ़े के लिए किस तरह से लोगों पर महँगी दवाएं थोपी जाती हैं।

चलिए अब हम जानते हैं कि जेनेरिक दवाएँ गुणवत्ता में ब्रांडेड दवाओं के बराबर होती हैं, लेकिन अब एक नया हथकण्डा सामने आता है। जेनेरिक दवाओं की आड़ में नकली दवाओं का कारोबार भी खूब फल-फूल रहा है। तमाम बीमारियों की नकली दवाएँ बाज़ार में उपलब्ध हैं जो मरीज़ को ठीक करना तो दूर उलटे नुकसान ज़्यादा करती हैं। कई मामलों में तो जानलेवा साबित होती हैं। और ये सब सरकार और दवा विभाग की नाक के नीचे होता रहता है। इस गोरखधन्धे की चपेट में वे लोग आते हैं जो महँगी दवा खरीद नहीं सकते और सस्ती जेनेरिक दवाओं के बदले नकली दवाओं के चंगुल में फँस जाते हैं। साफ़ है यह पीड़ित आबादी देश की व्यापक मेहनतकश आबादी है। इसी आबादी को ग़रीबी के चलते पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता और गन्दे वातावरण में रहना पड़ता है जिसकी वजह से बीमारियों की चपेट में भी यही आबादी सबसे अधिक आती है। बीमार होने पर दवा के बजाय नकली दवा के रूप में ज़हर मिलता है जो जानलेवा ही साबित होता है।

अगर नकली दवा से बच भी लिया जाये तो एक नया हथकण्डा तैयार खड़ा है। पिछले साल ख़बर आयी थी कि आन्ध्रप्रदेश और तेलंगाना में अहमदाबाद की एक दवा कम्पनी से उसकी दवाओं की बिक्री बढ़ाने की एवज में 44 डॉक्टरों को कैश और गिफ्ट लेते हुए पकड़ा गया था। इंडियन मेडिकल काउंसिल ने आन्ध्रप्रदेश मेडिकल काउंसिल से इन डॉक्टरों के खिलाफ़ "एक्शन" लेने के निर्देश भी दिये थे। बहरहाल डॉक्टरों के खिलाफ़ एक्शन लिया जाना हालाँकि ज़रूरी है लेकिन इसके लिए सिर्फ डॉक्टर ज़िम्मेदार नहीं हैं। डॉक्टरों और दवा कंपनियों का यह "अपवित्र गठजोड़" कोई नई खोज नहीं है। बहुत पहले से ही दवा कंपनियाँ अपने एजेंटों के ज़रिये यह काम अंजाम देती आ रही हैं। कंपनियों और थोक व्यापारियों के लिए काम करने वाले एजेंट या मेडिकल रिप्रेज़ेंटेटिव अपने "टारगेट" पूरे करने हेतु डॉक्टरों को पकड़ते हैं और कमीशन के एवज़ में डॉक्टरों के भी टारगेट तय होते हैं। यहाँ से शुरू होता है मुनाफ़े की हवस का नंगा नाच जिसमें दवा कम्पनियाँ, दवा विक्रेता और डॉक्टर सभी एक साथ ताल से ताल मिलाते हैं। टारगेट पूरा करने के लिए तमाम तरह की गैर ज़रूरी दवाएँ मरीज़ों पर थोप दी जाती हैं जो बहुत बार उनके स्वास्थ्य को नुकसान भी पहुँचाती हैं। इसके अलावा मरीज़ की जेब पर जो बोझ पड़ता है उसके बारे में लिखने की भी ज़रूरत नहीं है। साथ में बड़ी मात्रा में एंटीबायोटिक दवाओं के बेअसर होने के पीछे एक कारण उनका गैर ज़रूरी इस्तेमाल भी है।

स्पष्ट है कि मामला "एथिकल दवाओं" का नहीं बल्कि "एथिक्स" यानि नैतिकता का है, मानवता का है और मानवीय संवेदनाओं का है। लेकिन पूँजीवाद में मानव, मानवता, मानवीय पेशे, मानवीय संवेदनाओं या नैतिकता का कोई अर्थ नहीं होता है। मुनाफे के घटाघोप में दवा तो मुनाफ़े के लिए बिकती ही है लेकिन साथ में बिकती है ज़िन्दगी, मानवीय मूल्य, मानवता और नैतिकता भी जिनकी कीमत कौड़ियों से भी सस्ती होती है। कुछ लोग डॉक्टरों से सेवा करने की भावुकतापूर्ण अपील करते हैं, कुछ लोग प्रभावशाली नीतियाँ और कड़े क़ानून लागू करने की बात करते हैं तो कुछ लोग कहते हैं कि अच्छे बुरे लोग हर पेशे में होते हैं और आज अच्छे लोगों को आगे आने की जरूरत है। लेकिन यह केवल "कुछ" लोगों, कंपनियों या डॉक्टरों की बात नहीं है जो ऐसे घिनौने काम कर रहे हैं, और न ही कोई मानवतावादी अपील, कड़े से कड़ा क़ानून या चन्द 'अच्छे' लोगों की भलमनसहत कुछ अच्छा कर सकती है। यहाँ बात चन्द अच्छे या बुरे लोगों की नहीं है। यहाँ बात इस पूरी मुनाफ़ा आधारित अमानवीय व्यवस्था की है। मुनाफ़े पर क़ायम पूरी पूँजीवादी व्यवस्था ही इंसानियत का ख़ून पीती है। पूँजीवाद अपने आप में ही एक मानवद्रोही व्यवस्था है। यह मानवता की सबसे बड़ी बीमारी है और इसका इलाज किसी जेनेरिक या ब्रांडेड दवा में नहीं बल्कि इस सड़ी हुई व्यवस्था को इंकलाब रूपी ऑपरेशन से काट कर अलग कर देने में है। मानव और मानवता का बचाव इस व्यवस्था में सुधार के रास्ते नहीं बल्कि इस पूरी व्यवस्था को समूल उखाड़ कर और मेहनतकश का लोक स्वराज कायम करके ही हो सकता है।

– नवमीत

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव • सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006